मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 3 ● वर्ष 1 ● अंक 3 ● जनवरी 2011 ● पाँच रुपये ● सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

21वीं सदी के पहले दशक का समापन

मज़दूर वर्ग के लिए आशाओं के उद्गम और चुनौतियों के स्रोत

● सम्पादकीय अग्रलेख

वर्ष 2010 के बीतने के साथ 21वीं सदी का पहला दशक बीत गया। यह दशक पूरी दुनिया में उथल-पुथल के दशक के तौर पर याद किया जायेगा। इसके पहले ही वर्ष में साम्राज्यवादी अमेरिका ने अपनी डगमगाती आर्थिक नैया को बचाने के लिए आतंकवाद के सफ़ाये के नाम पर एक विनाशकारी युद्ध दुनिया पर थोप डाला जिसकी क़ीमत मध्य-पूर्व की आम जनता अपने ख़ून से आज भी चुका रही है। लेकिन अब यह साबित हो चुका है कि इस युद्ध ने अमेरिकी शक्तिमत्ता को बचाने की बजाय और अधिक संकट में ही डाल दिया है। दशक की शुरुआत में जहाँ तमाम टकसाली संशोधनवादी मार्क्सवादी बुद्धिजीवी अमेरिकी शक्ति के निर्विरोध वर्चस्व और अन्तिम विजय की बात कर रहे थे, वहीं दशक का अन्त होते-होते वे अपना ही थूका हुआ चाटने पर मजबूर हो गये हैं। अमेरिकी वर्चस्व के पराभव और पतन की प्रक्रिया शुरू होने के पीछे वास्तव में पूरी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था का अन्तकारी संकट है।

पहले से भी खोखला, परजीवी और मरणासन्न हुआ है पूँजीवाद!

1990 में सोवियत संघ में नक़ली कम्युनिज़्म का झण्डा गिरने के बाद दुनियाभर में पूँजीपतियों के टुकड़ों पर पलने वाले क़लमघसीट पूँजीवाद की अन्तिम विजय की बात करने लगे थे। वे सभी आज बगलें झाँक रहे हैं। 1970 के दशक की शुरुआत में जिस मन्द मन्दी ने पूँजीवाद को जकड़ना शुरू किया था, वह भूमण्डलीकरण के इस दौर में एक कभी न समाप्त होने वाले संकट का रूप ले चुकी है। ख़ासतौर पर, इस बीते दशक की शुरुआत से पूँजीवाद तेज़ी का कोई छोटा दौर भी नहीं देख सका है। एक संकट ख़त्म होता है, तो दूसरा संकट सामने मुँहबाये खड़ा रहता है। 2006 के अन्त में जिस आर्थिक संकट की शुरुआत अमेरिका में हुई, आज उसने पूरे पूँजीवादी विश्व को अपने पाश में जकड़ लिया है। इस संकट से उबरने के सारे दावे और भविष्यवाणियाँ फेल हो रही हैं और अब साम्राज्यवादी देशों के शासक भी इस बात को स्वीकार कर रहे हैं कि अभी इस संकट से पूरी तरह उबरने के लक्षण नहीं दिखायी दे रहे हैं और पूरी विश्व अर्थव्यवस्था कभी भी फिर से महामन्दी की चपेट में आ सकती है।

साफ़ नज़र आ रहा है कि पूरी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था अपने अन्तकारी संकट से जूझ रही है और हर बीतते वर्ष के साथ उसका आदमख़ोर और मरणासन्न चरित्र और भी स्पष्ट तौर पर नज़र आने लगा है। पूँजीवाद की अन्तिम विजय को लेकर जो दावे और भविष्यवाणियाँ की जा रही थीं, वे अब चुटकुला बन चुकी हैं। दुनियाभर में कम्युनिज़्म और मार्क्सवाद की वापसी की बात हो रही है। बार-बार यह बात साफ़ हो रही है कि दुनिया को विकल्प की ज़रूरत है और पूँजीवाद इतिहास का अन्त नहीं है। आज स्वत:स्फूर्त तरीक़े से दुनिया के अलग-अलग कोनों में मज़दूर सड़कों पर उतर रहे हैं। कहीं पर नौसिखुए नेतृत्व में, तो कहीं बिना नेतृत्व के वे समाजवाद के आदर्श की ओर फिर से देख रहे हैं। जिन देशों में समाजवादी सत्ताएँ पतित हुईं, वहाँ का मज़दूर आज फिर से लेनिन, स्तालिन और माओ की तस्वीरें लेकर सड़कों पर उतर रहा है। वह देख चुका है कि पूँजीवाद उसे क्या दे सकता है। यह सच है कि पूरी दुनिया में अभी भी श्रम की शक्तियों पर पूँजी की शक्तियाँ हावी हैं और मज़दूर वर्ग की ताक़त अभी बिखराव और अराजकता की स्थिति में है। लेकिन इसका कारण पूँजीवाद की शक्तिमत्ता नहीं है। इसका कारण मज़दूर वर्ग के आन्दोलन की अपनी अन्दरूनी कमज़ोरियाँ हैं। लगातार संकटग्रस्त पूँजीवाद आज महज़ अपनी जड़ता की ताक़त से टिका हुआ है। युद्धों और विभीषिकाओं को पैदा करके और मज़दूर वर्ग की जीवन-स्थितियों को नर्क जैसा बनाकर वह अपने आपको टिकाये हुए है। क्योंकि कोई चीज़ अपने आप नहीं गिरती। उसे गिराने के लिए बल लगाने की ज़रूरत होती है। और आज बल लगाने वाली ताक़त विचारधारात्मक, राजनीतिक और भौतिक तौर पर बिखरी, निराश और टूटी हुई है। एक ओर मज़दूरों के स्वत:स्फूर्त उभार हो रहे हैं तो दूसरी तरफ़ इन संघर्षों को एक कड़ी में पिरो सकने और मौजूदा हालात के

(पेज 13 पर जारी)

अन्दर के पेजों पर

- कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? पेज – 5
- माइक्रो फ़ाइनेंस : महाजनी का पूँजीवादी अवतार पेज – 6
- ठेका प्रथा के ख़ात्मे की माँग पूँजीवाद की एक आम प्रवृत्ति पर चोट करती है पेज – 8
- सीटू की गद्दारी से आई.ई.डी. के मज़दूरों की हड़ताल नाकामयाब पेज – 16

पूँजी के इशारों पर नाचती पूँजीवादी न्याय व्यवस्था

बिगुल संवाददाता

4 जनवरी का दिन भारतीय न्याय व्यवस्था के इतिहास के उन तमाम दिनों में से एक बन गया, जब यह साबित होता है कि मौजूदा न्यायपालिका भी इसी लुटेरी पूँजीवादी व्यवस्था का ही एक अंग है। दूरगामी तौर पर, सेशन कोर्ट से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक, न्यायपालिका के सभी स्तम्भ पूँजीवादी व्यवस्था के रखाँ तरीक़े से चलने को ही सुनिश्चित करते हैं। 4 जनवरी को प्रसिद्ध चिकित्सक, पीपुल्स यूनियन फ़ॉर सिविल लिबर्टीज़ से जुड़े मानवाधिकार कार्यकर्ता और छत्तीसगढ़ के आदिवासियों के बीच लम्बे समय से जन स्वास्थ्यकर्मी के रूप में काम करने वाले डॉ. विनायक सेन और उनके साथ तथाकथित माओवादी नेता नारायण सान्याल और तथाकथित माओवादी-समर्थक पीयूष गुहा को छत्तीसगढ़ के एक सत्र न्यायालय के न्यायाधीश बी.पी. वर्मा ने आजीवन कारावास की सज़ा सुनायी। इन तीनों को देशद्रोह का दोषी क़रार दिया गया और साथ ही आतंकवाद निरोधक क़ानून और कुख्यात

विनायक सेन को आजीवन क़ैद

छत्तीसगढ़ जन सुरक्षा अधिनियम के तहत भी दोषी ठहराया गया। पूरी दुनिया में, इस फ़ैसले को लेकर भारतीय न्याय व्यवस्था उपहास का पात्र बनी हुई है। यह सर्वविदित तथ्य है कि यह फ़ैसला पूरी तरह छत्तीसगढ़ की मज़दूर-विरोधी राजग सरकार के इशारों पर लिया गया है। वास्तव में, छत्तीसगढ़ में आदिवासियों के दमन के लिए सरकारी गुण्डा वाहिनी सलवा जुडूम और सशस्त्र बलों के अत्याचार को खोलकर जनता के सामने रखने में अपनी भूमिका के लिए विनायक सेन को क़ीमत अदा करनी पड़ रही है। सारी दुनिया में इस बात की चर्चा आम है कि इस पूरे मामले में आरोपियों के ख़िलाफ़ सबूत या तो मज़ाक़िया थे या फिर फ़र्ज़ी। यही कारण है कि साम्राज्यवादियों के पैसे पर मानवाधिकार की हिमायती बनने वाली संस्था एमनेस्टी इण्टरनेशनल तक यह कहने को मजबूर हो गयी कि यह फ़ैसला अन्याय का प्रतीक है। अरुन्धती राय, राजेन्द्र सच्चर, अमर्त्य सेन, जस्टिस अहमदी, प्रशान्त भूषण, जस्टिस काटजू समेत अगणित बुद्धिजीवियों, वकीलों, न्यायाधीशों, आदि ने इस फ़ैसले को न्याय का मखौल बताया है। पूरे देश में जनसंगठनों और जनवादी अधिकारों को समर्पित संस्थाओं ने इस फ़ैसले के ख़िलाफ़ प्रदर्शन किया है।

विनायक सेन पर जेल में बन्द नारायण सान्याल से पत्र लेकर पीयूष गुहा को पहुँचाने का आरोप है। लेकिन इस आरोप के लिए उन पर देशद्रोह का मुक़दमा कैसे चलाया जा सकता है? और इसके लिए आजीवन कारावास की सज़ा कैसे दी जा सकती है? अब यह भी ज़ाहिर हो चुका है कि सबूत के तौर पर जिन पत्रों को पेश किया जा रहा है उनमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं था। दूसरी बात, नारायण सान्याल और पीयूष गुहा के भाकपा माओवादी से सम्बन्धों को पुष्ट करने लायक पर्याप्त प्रमाण भी पुलिस और सरकार के पास नहीं हैं। ऐसे में, यह पूरा फ़ैसला छत्तीसगढ़ सरकार के राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्यों से प्रेरित दिखलायी पड़ता है। इसके अतिरिक्त, जिस वीडियो को सज़ा देने के आधार के रूप में इस्तेमाल किये गये प्रमाणों में से एक माना गया है, वह मजिस्ट्रेट ने शूट करवाया था। यह वीडियो सेन के घर पर छापे का वीडियो था, जिसमें पुलिसकर्मियों को एक बैग के साथ सेन के घर की सीढ़ियों से उतरते दिखलाया गया है। वे कह रहे हैं कि इस छापे में यही मिला है। ज़ाहिर है, कि वीडियो स्वयं ही सरकार के दावों को निराधार

(पेज 15 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

शहीदों के सपनों को साकार करना होगा

'कल करे सो आज कर, आज करे सो अब' – कबीर दास के इस दोहे को चरितार्थ करने का समय अब आ गया है। मज़दूर भाइयो, वह समय अब आ गया है जब हमें पूँजी की सत्ता का खुलकर विरोध करना चाहिए और इसके लिए अपनी पूरी ताक़त झोंक देनी चाहिए। हमें अब अपने ऊपर हो रहे जुल्मों को और बर्दाश्त नहीं करना चाहिए। समाज के ऊपर हावी हो रही पूँजी तथा इसके चाटुकारों, दलालों, कमीशनख़ोरों को सबक़ सिखाना ही होगा। वरना हमारी हालत दिन-प्रतिदिन बद से बदतर होती चली जायेगी।

तो मज़दूर भाइयो-बहनो, अब इन्तज़ार की और ज़रूरत नहीं हैं। शीघ्र ही हमें एक कर्तव्यनिष्ठ संगठन बनाकर पूरे देश में क्रान्ति की अलख को जगाते हुए इस भ्रष्टाचारी सत्ता को मिटाना होगा और एक लोकस्वराज्य की स्थापना करनी होगी। जिसके लिए हम सभी को कन्धे से कन्धा मिलकर काम करना होगा। इसके लिए आवश्यकता है सच्ची लगन व मेहनत की जिसमें हमें पीछे नहीं हटना चाहिए। तभी भगतसिंह, राजगुरु व सुखदेव की क़ुर्बानी सफल हो पायेगी।

इन्क़लाबी अभिवादन के साथ,
रासलाल (दिल्ली)

तुम्हारी चुप्पी को क्या समझा जाये!

जब बहुसंख्यक श्रमिक जन हो श्रमरत
करें उत्पादन का कम पड़े भण्डार घर
बदले में पायें श्रम का मोल इतना कमतर
कि बस जीवन चले घिसट-घिसटकर
और मालिक वर्ग क़ब्ज़ा जमाये उत्पादन पर
लगा मोल बेचे ऊँचे दाम चढ़ाकर
मुनाफ़े की लूट मचाये दिन-रात
पल-प्रतिपल दिशा-देशान्तर
खड़ी कर ऊँची मीनारें
करे धन-संचय अति भयंकर
कला-साहित्य-ज्ञान-विज्ञान का मालिक बनकर
धर्म के धूम्रावरण की चादर फैलाकर
जब न्याय, इंसाफ़, क़ानून बन जाये
कुछ लोगों की मिलकियत,
जब याचना की अर्जी
फ़ाइलों के तले दब जाये
जब ज़िन्दा रहने की शर्त
कमरतोड़ मेहनत के बराबर हो जाये
तब तुम्हारी उपस्थिति को किस तरह
आँका जाये?
तुम्हारी चुप्पी का क्या अर्थ
निकाला जाये
क्योंकि चुप रहने का भी मतलब
होता है
तटस्थ होता कुछ भी नहीं!

गौरव, दिल्ली

कौन लेगा ग़रीबों की सुध ?

पिछले दिनों लक्ष्मीनगर, दिल्ली में पाँच मंज़िला एक इमारत गिरने से 70 लोग अपनी जान गँवा बैठे और 100 से अधिक लोग अभी भी अपना सामान्य जीवन नहीं जी पा रहे हैं। कहा जाता है कि उस इमारत में छोटे-छोटे 40-45 कमरे थे और हर कमरे में 5-10 लोग रहते थे। कोई कहीं मज़दूरी करता था, कोई सब्ज़ी बेचता था, कोई किसी दुकान में काम करता था और कई लोग तो रोज़गार ढूँढ़ रहे थे। ये बेचारे अपने घरों से 1000-1200 किमी दूर आकर काम शौक़िया नहीं करते थे बल्कि उनकी यह मजबूरी सरकारी नीतियों की देन है। सरकारी नीतियाँ शहर केन्द्रित विकास पर ज़ोर देती है। यहीं कारण है कि गाँवों में रोज़गार के साधन नहीं है, कुछ हैं तो उनसे लगभग 5 फ़ीसदी लोग ही लाभान्वित हो पाते हैं। बाक़ी 95 फ़ीसदी लोग अपने परिवार का पालन-पोषण करने के लिए शहर की ओर पलायन कर रहे हैं। दो जून की रोटी के लिए ये लोग दिल्ली और मुम्बई जैसे नगरों में जिन हालातों में रहते हैं उसका वर्णन करना मुश्किल है। 6 गुना 6 फुट की झुग्गियों में बाल-बच्चों सहित रहते हैं, वहीं खाना बनाते और खाते हैं, नहाते हैं। ख़ैर आप लोगों को जानकर हैरानी तो नहीं होगी कि हम लोग जहाँ पूजा करने जाते हैं वहाँ पर मन्दिर की ज़मीन पर महँगे-महँगे टायल लगे होते हैं, महँगी-महँगी लाईट होती है, भगवान तक तो धूल-मिट्टी पहुँचने का सवाल पैदा नहीं होता है। लेकिन हम जहाँ रहते है वहाँ धूल-मिट्टी भरी रहती है। देश में करोड़ों लोगों के सिर पर छत न हो, लेकिन सारे धार्मिक स्थल पर छत ज़रूर होगी, क्योंकि उसमें भगवान रहता है जिन्हें हम अपनी क़िस्मत के लिए दिन-रात कोसा करते हैं। ऊपर से पुलिसवाले और अन्य सरकारी बाबू अवैध झुग्गी के नाम पर हम पर रौब जमाते हैं।

हम एक कमरे में 6-10 लोग रहते है जिससे हम पर किराये का बोझ कम पड़ता हैं, क्योंकि हम पाई-पाई जोड़कर साल-छह महीने में कुछ हज़ार रुपये इकट्ठा कर लेते हैं और उसे गाँव में परिवार-जन के लिए भेजते हैं। हम लोग कुछ ज़्यादा कमाने के लिए कोल्हू के बैल की तरह काम करते हैं फिर भी बचत के नाम पर कुछ नहीं होता। क्योंकि हमें हमारी मेहनत के अनुसार पैसा भी नहीं मिलता है। आज दिल्ली में हेल्पर के आठ घण्टे काम का वेतन 5278 रुपये है लेकिन मिलता कितना है, और कितनों को मिलता है? कहीं पर 2500 या ज़्यादा से ज़्यादा 3500 रुपये तक। ऊपर से महँगाई कमर तोड़े रहती है। रोज़ काम भी नहीं मिलता और कभी शरीर दगा दे देता है। इन हालात में भला हम लोग अपने बच्चों का पेट कैसे भरते होंगे ये तो ख़ुद ही समझने वाली बात है।

अभी कुछ दिनों पहले देश के प्रधानमन्त्री मनमोहन जी ने बताया है कि ग़रीब ज़्यादा खाना खा रहे हैं इसलिए महँगाई बढ़ रही है – सुना आप लोगों ने! मनमोहन जी का कहना है कि अब हम लोग ज़्यादा खाने लगे हैं, अगर कभी वे आपसे मिलते हैं तो आप उनसे ये ज़रूर कहना कि ये शब्द कहने से पहले कम से कम एक बार तो ग़रीबों के घर में झाँक लिया होता!

जिन बच्चों को भोजन न मिलने की वजह से कुपोषण का शिकार होना पड़ता है, वे कहाँ से आते हैं। ये भी तो हमारे देश के बच्चे हैं जिनके मरने के बाद भी उनकी खुली आँखें रोटियों का इन्तज़ार करती रहती हैं जैसे मानो उन्हें लग रहा हो अभी उनकी माँ या बाबूजी आयेंगे और कहेंगे – बेटा लो रोटी खा लो। शायद उस दर्द की मध्यवर्ग कल्पना भी नहीं कर सकते। क्योंकि वे उन बस्तियों, उन घरों में नहीं रहते जहाँ हर रोज़ एक बच्चा रोटी की राह देखते-देखते हमेशा के लिए अपनी माँ के गोद में सो जाता है और ये लोग कहते हैं हमारे ज़्यादा खाने की वजह से महँगाई बढ़ रही है। लेकिन ये कभी नहीं कहते कि उनके बच्चों के जन्मदिन पार्टियों या बुढ़ापे में भी अपनी शादी की सालगिरह मनाने में, जो लाखों रुपये पानी की तरह ख़र्च कर देते हैं। कितने सरकारी संस्थानों में संगठित क्षेत्रों में कार्य करने वालों की तो समय-समय पर 'पगार' बढ़ा दी जाती हैं। फिर भी ये लोग साल डेढ़ साल में वेतन बढ़ाने के लिए हड़ताल करते हैं, विरोध प्रदर्शन करते हैं। सरकार इनकी बातों को सुनती भी है और उस पर निर्णय भी करती है। किन्तु हम मज़दूरों की सुध कोई नहीं लेता। यदि सुध ली भी जाती है, तो वह ऊँट के मुँह में जीरे के सामान होती है।

आख़िर हम मज़दूरों के लिए कोई ऐसी ठोस नीति क्यों नहीं बनायी जाती कि हमें अपना पेट पालने के लिए घर से 1500 किमी. दूर जाना न पड़े। यदि हमें अपने राज्य में ही रोज़गार मिल जाये तो विश्वास कीजिये हम लोग दिल्ली और मुम्बई की संड़ाधभरी हवा और जर्जर मकानों या झुग्गी में रहने के लिए नहीं आयेंगे।

लेकिन सवाल यह है कि ऐसी नीतियाँ बनायेगा कौन? क्योंकि जिन पर नीतियाँ बनाने की ज़िम्मेवारी है उनकी आँखें भारत की 80 फ़ीसदी मेहनतकश आबादी पर टिकती ही नहीं है। उनकी आँखों में विदेशी चकाचौंध छायी रहती है इसलिए वे दिल्ली को पेरिस बनाने का सपना देखते हैं लेकिन ग़रीबों के लिए नहीं अमीरजादों के लिए। अगर ये नीतियाँ नहीं बदली गयीं तो आम आदमी इसी तरह भटकता रहेगा ग़रीब और ग़रीब होता रहेगा, लोग यूँ ही अपनी जान गँवाते रहेंगे। इसलिए जल्द से जल्द मेहनतकश सत्ता के निर्माण के लिए एकजुट होना होगा। तभी ये हालात बदलेंगे।

प्रेम सागर,
झिलमिल, दिल्ली

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मज़दूर बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	पाँच रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ-226016
सम्पादक का नाम	सुखविन्दर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज लखनऊ-226006
स्वामी का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी सिन्हा, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(कात्यायनी सिन्हा)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522 2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09213639072
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94
ईमेल : bigul@rediffmail.com
मूल्य : एक प्रति – रु. 5/-
वार्षिक – रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित)

राजधानी की चमकती इमारतों के निर्माण में ठेका मज़दूरों का नंगा शोषण

ऐसे में बेमानी हैं क़ानून और संविधान की बातें...

राष्ट्रमण्डल खेलों (सी.डब्ल्यू.जी.) के समाप्त होने के बाद सभी अख़बारों और टीवी ख़बरों में लगातार घोटालों से सम्बन्धित भ्रष्टाचार के खुलासों की एक बाढ़ सी आ गयी है। इस सबके बीच हर उत्पादन और निर्माण कार्य में ठेकाकरण के चलते, राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में सी.डब्ल्यू.जी. और अन्य निर्माण कार्य में लगे कितने ही ठेका मज़दूर विकास की चमक-दमक के खोखले दिखावे के चलते मौत के शिकार हो चुके हैं। एक अख़बार की रिपोर्ट के अनुसार (टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, 23 अक्टूबर, 2010, "सी.डब्ल्यू.जी. में मरने वालों की संख्या सरकार को नहीं पता!") सी.डब्ल्यू.जी. के निर्माण कार्य में लगे 70,500 मज़दूरों में से 101 मज़दूरों की दुर्घटना से मृत्यु हुई, लेकिन किसी के पास, यहाँ तक कि सरकार के पास भी मज़दूरों की मृत्यु से सम्बन्धित "सही आँकड़े" नहीं हैं।

इसी अख़बार की एक अन्य रिपोर्ट (21 अक्टूबर 2010, "मिलेनियम सिटी के मज़दूर निर्माण करते हुए मर रहे है") के मुताबिक़ पिछले दो वर्षों में गुड़गाँव के निर्माण कार्य में सुरक्षा उपायों के अभाव के चलते 47 निर्माण मज़दूरों की ऊँचाई से गिरकर मृत्यु हो चुकी है। यह संख्या सिर्फ़ सूचित की गयी घटनाओं की है।

अख़बार की रिपोर्ट के अनुसार श्रम विभाग का कहना है कि "कई ऐसे मामले बिना सूचना के ही ठेकेदारों या बिल्डरों द्वारा दबा दिये जाते हैं, और अधिकांश मामलों में मृतक के परिवारवालों को कुछ पैसे देकर चुप करा देने के बाद मामले को दबा दिया जाता है।"

मज़दूरों को 12 से 14 घण्टों के काम के लिए 150 रुपयों का भुगतान किया जाता है, और महिला मज़दूरों के बच्चों के लिए कोई सुविधा मुहैया नहीं करायी जाती, जिसके कारण काम के वक़्त उनके बच्चे सड़क पर घूमते रहते है। जबकि "बिल्डिंग और अन्य निर्माण मज़दूर कल्याण एक्ट 1966" के अनुसार महिला मज़दूरों के बच्चों के लिए पालनाघर की सुविधा होनी चाहिए। इसी प्रकार न्यूनतम मज़दूरी, ओवरटाइम का दोगुनी दर से भुगतान, काम के घण्टों आदि को लेकर क़ानून बने हुए हैं। लेकिन वर्तमान ठेका व्यवस्था में मज़दूरों का खुला शोषण हो रहा है और सरकार ने इसे एक मौन समर्थन दे रखा है। सरकार अपने उस वायदे को भुला चुकी है जिसके तहत उसने ठेका मज़दूर क़ानून का नाम ठेका मज़दूरी (विनियमन व उन्मूलन) क़ानून रखा था। यानी कि सरकार ने यह क़ानून ठेका व्यवस्था को एक क्रमिक प्रक्रिया में समाप्त करने के लिए बनाया था। लेकिन अब सरकार स्वयं अपने ही उपक्रमों में ठेकाकरण के ज़रिये स्थायी नौकरियों को ख़त्म कर रही है और ठेका मज़दूरों की संख्या को बढ़ा रही है। ज़ाहिर है कि ठेका प्रथा को पूँजीवादी व्यवस्था के लिए समाप्त कर पाना सम्भव नहीं है और ख़ासतौर पर अब तो बिल्कुल नहीं। कारण यह है कि मन्दी के इस दौर में मुनाफ़े की दर इस क़दर नीचे हो चुकी है कि पूँजीपति मज़दूरी के खाते में हर संभव कटौती कर अपना मुनाफ़ा बढ़ाने की कोशिश कर रहा है। ऐसे में ठेका मज़दूर तो ख़ासतौर पर पूँजीपति के मुनाफ़े को बढ़ाने का काम करते हैं। ज़ाहिर है कि ठेकाकरण लगातार बढ़ेगा ही, कम नहीं होगा।

'इकॉनोमिक टाइम्स' (21 अक्टूबर 2010) की एक रिपोर्ट "मज़दूर बकाया राशि से वंचित" में सी.डब्ल्यू.जी. निर्माण के बारे में कई अन्य तथ्यों का खुलासा किया गया है, जो ठेकेदारों द्वारा मज़दूरों के शोषण की एक नंगी तस्वीर प्रस्तुत करता है।

पहला, निर्माण कार्य में लगे मज़दूरों को 110 या 130 रुपये प्रति दिन का भुगतान किया गया जबकि सरकार द्वारा 203 रुपये प्रतिदिन निर्धारित था, और इसमें ठेकेदारों ने प्रतिदिन प्रत्येक मज़दूर से 80 से 75 रुपये लूटे।

दूसरा, कुछ निर्माण स्थलों पर मज़दूरों को 300 से 400 रुपये प्रति सप्ताह के अनुसार भुगतान किया गया।

तीसरा, सभी मज़दूरों से उनकी क्षमता से ज़्यादा काम कराया गया; उनसे 10 घण्टों से ज़्यादा काम कराया गया और इसके लिए कोई अतिरिक्त वेतन नहीं दिया गया। नियमानुसार 12 घण्टे के काम के लिए 406 रुपये दिये जाने चाहिए, लेकिन सिर्फ़ 180 से 170 रुपये प्रतिदिन दिये गये।

चौथा, मज़दूरों को कोई साप्ताहिक छुट्टी नहीं भी नहीं दी जाती थी।

छोटी-छोटी ख़बरों को भी सनसनी का रूप दे देने वाले सूचना के ज़्यादातर माध्यम जो जनतन्त्र और जनवाद का ढिंढोरा पीटते रहते हैं, उनके पास जनता के सामने ठेका मज़दूरों की इस सच्चाई को लाने के लिए समय नहीं होता, या कहा जाये कि वे समय देना ही नहीं चाहते।

राजधानी और अन्य मेट्रो शहरों के इस चमकते चेहरे के पीछे छुपायी गयी इस सच्चाई को समझने के लिए ये तथ्य पर्याप्त हैं, जिसके निर्माण में लगे लाखों मज़दूरों का मुनाफ़ाख़ोर ठेकेदार खुला शोषण करते हैं और खुली पूँजीवादी ठेका व्यवस्था के चलते पर्याप्त सुरक्षा के अभाव और लापरवाही के कारण कई मज़दूरों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। मज़दूरों की क़ब्रों पर खड़े इन भवनों के चमकते चेहरे को दुनिया के सामने राष्ट्र के विकास का मील का पत्थर साबित करने का स्वाँग किया जाता है।

कई लोग, जो संविधान में लिखे शब्दों का तात्पर्य समझे बिना उन्हें सिर्फ़ याद कर लेते हैं, वे कहते फिरते हैं कि सभी को शिक्षा प्राप्त करने और स्वतन्त्रता के साथ जीने का सामान अवसर दिया गया है। और कुछ लोग यह भी नहीं समझ पाते कि जो मज़दूर अपनी मेहनत से पूरे राष्ट्र का निर्माण करते हैं, जो अपने श्रम से समाज के लिए आवश्यक हर चीज़ को पैदा करते है, वे स्वयं अधिकांश चीज़ों का उपयोग कभी नहीं कर पाते। जिनकी मेहनत से निर्मित हर वस्तु का उपयोग समाज का एक छोटा हिस्सा अपनी सुख-सुविधाओं के लिए करता है; जबकि मेहनत करने वाले 77 से 80 प्रतिशत लोग प्रतिदिन 20 रुपये या उससे कम की आमदनी में, अपनी आजीविका के लिए आवश्यक बुनियादी वस्तुओं के अभाव में, अपना पूरा जीवन गुज़ार देते हैं।

• राजकुमार

यह कमरतोड़ महँगाई क़ुदरत की नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था की देन है

"महँगाई डायन" का इलाज पूँजीवादी ओझाओं के पास है ही नहीं

देश की मेहनतकश आबादी पिछले पूरे साल भीषण महँगाई से जूझती रही। दाल, अण्डे, दूध, मांस व मछली जैसी प्रोटीनयुक्त चीज़ें तो पहले ही देश की आम आबादी की पहुँच के बाहर हो गयी थीं, साल का अन्त आते-आते प्याज़, टमाटर और हरी सब्ज़ी आदि भी मज़दूर वर्ग और निम्न मध्य वर्ग के रोज़मर्रा के भोजन से नदारद दिखे। साल के मध्य में देश के अर्थशास्त्री प्रधानमन्त्री ने जनता को भरोसा दिलाते हुए कहा कि साल के अन्त तक महँगाई पर क़ाबू पा लिया जायेगा। लेकिन साल का अन्त आते-आते तो महँगाई अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में खाद्य मुद्रास्फीति की दर 18 फ़ीसदी से भी ऊपर पहुँच गयी। ऐसे में देश की 77 प्रतिशत आबादी, जिसकी आमदनी मात्र 20 रुपये प्रतिदिन की है, कैसे गुज़ारा करती होगी, यह कल्पना करने मात्र से सिहरन हो उठती है।

वैसे तो इस व्यवस्था में मेहनत-मजूरी करने वाली आबादी हमेशा ही महँगाई से त्रस्त रहती है, लेकिन इस बार की महँगाई का चरित्र भिन्न है। वर्ष 2008 के मध्य से ही कमरतोड़ महँगाई का जो दौर चला वह अभी तक थमने का नाम ही नहीं ले रहा है। इसके लिए सरकार कभी सूखे को ज़िम्मेदार ठहराती है तो कभी बारिश को। लेकिन दरअसल इस दौर की महँगाई के कारण पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचे में ही हैं। महँगाई का असर कुछ चुनिन्दा वस्तुओं पर ही नहीं बल्कि आम जनता के इस्तेमाल की लगभग सभी वस्तुओं पर पड़ा है। लोगों की बुनियादी ज़रूरत की चीज़ें जैसे कि खाद्य सामग्री, मकान का भाड़ा, यातायात के साधनों का किराया इत्यादि के दाम तो आसमान छू रहे हैं।

इस दौर की महँगाई दरअसल पूँजीवादी व्यवस्था के संकट का ही द्योतक है। अति-उत्पादन के संकट से निजात पाने के लिए और मुनाफ़े की गिरती दर को क़ाबू में करने के लिए पूँजीपति वर्ग महँगाई को शोषण के अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करता है। महँगाई मेहनतकश वर्ग पर लगाये गये छिपे हुए टैक्स के समान होती है जिसके माध्यम से पूँजीपति वर्ग अधिशेष निचोड़ता है। जैसा कि भारत में देखने में आया है, महँगाई की वजह से मेहनतकश वर्ग, ख़ासकर असंगठित क्षेत्र के मज़दूर व खेतिहर मज़दूरों, की वास्तविक आय में भारी कमी आयी है, भले ही उनकी आमदनी में कमी न आयी हो, क्योंकि उनकी क्रय-शक्ति लगातार कम होती जा रही है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मज़दूर वर्ग का शोषण केवल मिल मालिक ही नहीं बल्कि समूचा पूँजीपति वर्ग करता है। मिल मालिकों के अलावा मुनाफ़ाख़ोर व्यापारियों और सूदख़ोर बैंकरों के मुनाफ़े का स्रोत भी मज़दूरों की वास्तविक आय घटाकर प्राप्त किया गया अधिशेष ही है।

इस महँगाई का कारण ढाँचागत है। यह इस बात से भी समझा जा सकता है कि एक ओर तो 6 करोड़ टन अनाज सरकारी गोदामों में सड़ रहा है या फिर चूहों की भेंट चढ़ रहा है, वहीं दूसरी ओर देश में करोड़ों लोग भुखमरी और कुपोषण के शिकार हैं जिसमें सबसे अधिक संख्या बच्चों और महिलाओं की है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक के एक अध्ययन के मुताबिक़ इस समय प्रति व्यक्ति खाद्य उपलब्धता 1942-43 में बंगाल में आये भीषण अकाल के दिनों के बराबर पहुँच गयी है। भारत दूध, ताज़े फलों और खाद्य तेलों के उत्पादन में दुनिया के देशों में अग्रणी है और गेहूँ, चावल, प्याज़, अण्डे इत्यादि के उत्पादन में दूसरे स्थान पर है। इसके बावजूद इण्टरनेशनल पॉलिसी रिसर्च इंस्टीट्यूट द्वारा 2010 में जारी वैश्विक भूख सूचकांक में भारत का स्थान 85 देशों में 67 वाँ था।

वर्ष 2009 में महँगाई का कारण सूखे की वजह से कृषि उत्पादन में आयी कमी को बताया गया था। किन्तु पिछले साल तो कृषि उत्पादन में रिकॉर्ड बढ़ोत्तरी हुई। इसके बावजूद महँगाई से राहत तो दूर, 44 करोड़ मज़दूर आबादी के लिए तो दो जून का भोजन भी दुश्वार हो गया है। पिछले साल सरकार की नीतियों ने महँगाई को कम करने की बजाय उसे और रफ़्तार देकर आग में घी डालने का काम किया। पिछले बजट में सरकार ने निजीकरण और उदारीकरण के रथ के पहिये को कृषि क्षेत्र में भी मोड़ा। कृषि उत्पादों के खुदरा व्यापार में निजी कम्पनियों को मुनाफ़ा कमाने के लिए छूट दी गयी। खाद्यान्न सब्सिडी की मात्रा कम की गयी। वायदा व्यापार में मिली छूट का लाभ उठाकर मुनाफ़ाख़ोर व्यापारियों ने ज़बर्दस्त अटकलबाज़ी और जमाख़ोरी करके जिंसों के दामों को आसमान में पहुँचाने का काम किया। पेट्रोल और डीजल की क़ीमतों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई जिसकी वजह से महँगाई और भी बढ़ी। सरकार द्वारा परोक्ष कर बढ़ाने की वजह से भी महँगाई बढ़ी।

निकट भविष्य में महँगाई कम होने के कोई आसार नज़र नहीं आ रहे हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली, जो तमाम भ्रष्टाचार के बावजूद महँगाई पर नकेल कसने में एक हद तक कारगर साबित होती थी, उसको पिछले दशक से ही योजनाबद्ध तरीक़े से नष्ट किया जा रहा है। कृषि की उत्पादकता औद्योगिक उत्पादकता से हमेशा पीछे रहती है और इसलिए कृषि में सब्सिडी और योजनाबद्ध सार्वजनिक निवेश की ज़रूरत पड़ती है। परन्तु कृषि के क्षेत्र में पिछले दो दशकों में सार्वजनिक निवेश और सब्सिडी में भारी कमी हुई है जिसकी वजह से कृषि उत्पादों की आपूर्ति कुछ ख़ास बढ़ने की सम्भावना नहीं लगती। उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों की वजह से बीजों, खादों और कीटनाशकों की क़ीमतों में भारी वृद्धि हुई है। मोन्सैण्टो और कारगिल जैसी दैत्याकार बहुराष्ट्रीय खाद्य कम्पनियों को खुली छूट देने की वजह से फ़सलों का पैटर्न बदला है। खाद्यान्न की बजाय नक़दी फ़सलों जैसे कि कॉटन, जूट, गन्ना, चाय, तम्बाखू इत्यादि का उत्पादन बढ़ा है क्योंकि उनमें ज़्यादा मुनाफ़ा होता है। इसके अतिरिक्त कृषि योग्य भूमि को भी विशेष आर्थिक क्षेत्र (एस.ई.जेड.) बनाने के लिए किसानों से जबरन या पैसे का लालच देकर हड़पा जा रहा है। इन सभी कारणों से कृषि उत्पादों की आपूर्ति बढ़ाकर खाद्य मुद्रास्फीति पर क़ाबू पाने की सम्भावना नहीं दिखती। इसके अलावा अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार में तेल की क़ीमत में सम्भावित वृद्धि महँगाई को और अधिक भयावह बना सकती है।

देश के शासक इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि लम्बे समय तक भीषण महँगाई बने रहने से जनता में व्यवस्था-विरोधी विद्रोही भावनाएँ पनपती हैं। इसलिए जब प्याज़ की क़ीमतें आसमान छूने लगीं तो सरकार ने आनन-फानन में प्याज़ के निर्यात पर रोक लगा दी और आयात बढ़ाने की योजना बनायी। इसी प्रकार, महँगाई को एक सीमा तक नियन्त्रित करने के लिए रिज़र्व बैंक ने पिछले साल 6 बार मौद्रिक नीति के ज़रिये ब्याज़ की दरें बढ़ायीं, जिससे अर्थव्यवस्था में फैली नक़दी में कमी आये। लेकिन ये नीतियाँ अभी तक कारगर नहीं साबित हुई हैं। यदि भविष्य में इस प्रकार की नीतियाँ महँगाई पर कुछ हद तक क़ाबू पा भी लेती हैं तो देश की जनता को इसका ख़ामियाज़ा बढ़ती बेरोज़गारी, छँटनी, कुपोषण एवं भुखमरी के रूप में चुकाना होगा।

महँगाई और इन सभी समस्याओं के जड़मूल निवारण हेतु आम मेहनतकश जनता को संगठित होकर अपने बुनियादी हक़ों के लिए लड़ने के साथ-साथ एक ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण के लिए भी लड़ना होगा जिसका आधार चन्द लोगों का मुनाफ़ा नहीं बल्कि व्यापक समाज की ज़रूरतें हो।

• आनन्द

आपने ठीक फ़रमाया मुख्यमन्त्री महोदय, बाल मज़दूरी को आप नहीं रोक सकते!

बंगाल के "संवेदनशील" मुख्यमन्त्री बुद्धदेव भट्टाचार्य बाल श्रम पर रोक लगाने के पक्षधर नहीं हैं! जहाँ 14 वर्ष की आयु से कम के बच्चों को मज़दूरी कराये जाने को लेकर दुनियाभर में हो-हल्ला (दिखावे के लिए ही सही!) मचाया जा रहा हो, वहीं मज़दूरों के पैरोकार का खोल ओढ़े भट्टाचार्य जी मज़दूरों की एक सभा में कहते हैं कि वे बच्चों को मज़दूरी करने से इसलिए नहीं रोक सकते, क्योंकि अपने परिवारों में आमदनी बढ़ाने में वे मददगार होते हैं और इसलिए भी ताकि वे काम करते हुए पढ़ाई भी कर सकें। मज़दूरों के बच्चों को श्रम का पाठ पढ़ाने वाले बुद्धदेव भट्टाचार्य को संशोधनवादी वामपन्थी माकपा के अध्ययन चक्रों और शिविरों में मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त का लगाया घोंटा थोड़ा बहुत याद तो होगा ही। ज़ाहिरा तौर पर उन्हें इस बात की जानकारी है कि मुनाफ़े पर टिकी इस आदमख़ोर व्यवस्था में बाल श्रम को ख़त्म ही नहीं किया जा सकता। पूँजीवाद की ज़िन्दगी की शर्त ही यही है कि वह सस्ते से सस्ता श्रम निचोड़ता रहे और उसे मुनाफ़े में ढालता जाये। आज भूमण्डलीकरण और वैश्विक मन्दी के दौर में तो मुनाफ़े की दर लगातार नीचे जा रही है और मुनाफ़े की दर को क़ायम रखने के लिए आदमख़ोर पूँजी एशिया, अफ़्रीका और लातिनी अमेरिका के पिछड़े पूँजीवादी देशों में सस्ते श्रम की तलाश में अपनी पहुँच को और गहरा बना रही है और वहाँ भी ख़ासतौर पर स्त्रियों और बच्चों का शोषण सबसे भयंकर तरीक़े से कर रही है क्योंकि उनका श्रम इन देशों में मौजूद सस्ते श्रम में भी सबसे सस्ता है।

ऐसे में स्पष्ट है कि संसदीय वामपन्थियों के सरदारों में से एक बुद्धदेव भट्टाचार्य पूँजीवादी व्यवस्था के विकल्प की बात नहीं करेंगे; वे एक समाजवादी व्यवस्था की बात नहीं करेंगे जिसमें मज़दूर परिवारों के बच्चों के लिए अपना हाड़ गलाना ज़िन्दा रहने की एक पूर्वशर्त न हो। यह सच है कि आज देशभर में मज़दूरों की जो स्थिति है उसमें तमाम स्वयंसेवी संगठनों के बाल श्रम को रोकने के उपदेशों का उनके ऊपर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला। एक आम ग़रीब मज़दूर यह जानता है कि काम करना वाक़ई उसके बच्चे के लिए जीने की शर्त है। पूँजीवाद के इस घृणित सत्य को मज़दूर वर्ग के ग़द्दार संसदीय वामपन्थी बुद्धदेव भट्टाचार्य छिपाने की कोशिश भी नहीं करते, क्योंकि वह जानते हैं कि इसका कोई लाभ नहीं है। उल्टे वह इसे एक अपरिहार्य, मान्य और स्वीकार्य यथार्थ के रूप में पेश करते हुए कहते हैं कि काम करके बाल मज़दूर पढ़ भी सकते हैं! वाह! पूँजीवाद की चाकरी करते हुए कोई बेशर्म कुतर्कों के कीचड़-कुण्ड में इस क़दर भी लोट लगा सकता है, यह हमने कभी नहीं सोचा था! लेकिन आश्चर्य की कोई बात होनी भी नहीं चाहिए। पूँजीवाद के सबसे दूरदर्शी पहरेदार की भूमिका में भारत के संसदीय वामपन्थियों ने दुनिया के अन्य देशों के संसदीय वामपन्थियों के मुक़ाबले हमेशा ही अधिक कुशलता और बेशर्मी का परिचय दिया है। जब किसी घिनौने सच को आपको बदलना न हो तो उसे एक आम सच की तरह बना दीजिये; यही काम बुद्धदेव ने किया है। पूँजीवाद की तो वे गोद में बैठ चुके हैं, इसलिए पूँजीवाद का ध्वंस कर मज़दूरों की सत्ता स्थापित करने की तो वे बात करेंगे नहीं; और पूँजीवाद के जीवित रहते बाल श्रम ख़त्म किया नहीं जा सकता; इसलिए सबसे अच्छा यही होगा कि बाल श्रम को आम सत्य बना दिया जाये जो स्वीकार्य और मान्य हो! बल्कि उसके सकारात्मक पहलू (?) की बात की जाये, जैसेकि यह कि बाल श्रम करते हुए बाल मज़दूर पढ़ भी सकते हैं! पूँजीवाद के दूरदर्शी सेवक बुद्धदेव ने यही करना चाहा है।

स्वयं अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन का कहना है (जो वास्तव में महज रिपोर्ट जारी करने वाली और सुझाव देने वाली एक संस्था ही है) कि पूरी दुनिया में ख़तरनाक कामों में लगे बाल मज़दूरों की संख्या 24 करोड़ 60 लाख है और उसमें भी सर्वाधिक जोखिम वाले काम जिसमें बच्चों को शारीरिक क्षति पहुँचने की सबसे अधिक सम्भावना रहती है, उसमें लगे बच्चों की संख्या 18 करोड़ है। एशिया में समूचे श्रमबल का 22 फ़ीसद हिस्सा बच्चों के श्रम का होता है और भारत में बाल मज़दूरों की संख्या लगभग 4 करोड़ है। जबकि घरों में नौकरों के रूप में काम करने वाले बच्चों की सही संख्या के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। ख़ुद बुद्धदेव भट्टाचार्य सरकार की 2101 की अपनी विकास योजना रिपोर्ट में यह माना गया है कि उनके अपने प्रान्त में बाल श्रमिकों की संख्या लगभग 8 लाख 57 हज़ार है। यह संख्या ज़ाहिर है, बढ़ती ही जायेगी।

पूँजी का चाबुक मध्यवर्ग के जिस निचले एक हिस्से को हमेशा मज़दूर वर्ग की क़तारों में ढकेलता रहा है, खेती में घुसपैठ करके गाँव के जिन ग़रीबों को अपनी जगह से उजाड़कर शहर में ला पटकता रहा है, उससे श्रम की उपलब्धता अत्यन्त सुगम हो गयी है। बदहाली और भुखमरी से अपने परिवार को बचाने में जब उसकी हाड़तोड़ मेहनत से भी कमाई पूरी नहीं पड़ती तो उसे अपने बच्चों और अपने घर की स्त्रियों को भी पूँजीपतियों के मुनाफ़े की भट्टी में झोंकने के लिए मजबूर होना पड़ता है, ताकि कम से कम वे जीवित तो रह सकें। भला कौन माँ-बाप अपने बच्चों को मौत के मुँह में जाता देखना चाहता है? समाजवाद के खोल में पूँजीवादी व्यवस्था का लादी ढोने वाला ख़ुश्चेव और देंग श्याओ पिंग का यह सच्चा अनुयायी बुद्धदेव बच्चों के इसी श्रम को उनके परिवार को मिलने वाला सहयोग कहता है।

दरअसल बाल मज़दूरी की समस्या कोई नयी परिघटना नहीं है जो आज के दौर में पैदा हुई हो। पूँजीवादी वैभव का पूरा अम्बार ही बच्चों और स्त्रियों के ख़ून-पसीने से लिथड़ा हुआ है, उसका एक बड़ा हिस्सा उनके सस्ते श्रम से तैयार किया गया है। पूँजीवादी होड़ के चलते पूँजीपतियों के अधिक से अधिक मुनाफ़ा बढ़ाते जाने का प्रश्न उनकी ज़िन्दगी और मौत का प्रश्न होता है। उनका मुनाफ़ा चूँकि मज़दूरों के श्रम से पैदा होता है, इसलिए होड़ में टिके रहने और उसके लिए ज़्यादा मुनाफ़ा पैदा करने की ज़रूरत से वे श्रम की उत्पादकता को लगातार बढ़ाते रहने की घात में लगे रहते हैं। यह दो तरीक़ों से बढ़ायी जा सकती है। उन्नत यन्त्र और तकनोलॉजी का इस्तेमाल करके, जिसमें समय-समय पर निवेश कर पूँजीपति मज़दूर की उत्पादकता बढ़ाकर अपने मुनाफ़े में बढ़ोतरी करता है। दूसरा तरीक़ा है यन्त्र और तकनोलॉजी में कोई सुधार किये बिना श्रम को और सस्ती दर पर ख़रीदना या काम के घण्टे बढ़ा देना या दोनों को एक ही साथ अंजाम देकर पूँजीपति अपने मुनाफ़े की दर बढ़ाता है।

भूमण्डलीकरण की रफ़्तार पकड़ती गति ने माल उत्पादन की पूरी प्रक्रिया को कई हिस्से में तोड़कर छोटी-छोटी औद्योगिक इकाइयों या कारख़ानों में बिखरा दिया है और विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना पूरी मुस्तैदी से करता जा रहा है जहाँ न कोई श्रम क़ानून लागू है और न कोई सामाजिक सुविधा। सस्ते से सस्ता श्रम ख़रीदने की सबसे मुफ़ीद जगह! पूँजीपति अपनी मशीनों और तकनीक का आधुनिकीकरण करने की जगह इन छोटे-छोटे कारख़ानों में बेहद सस्ती दरों पर मज़दूरों का श्रम ख़रीदते हैं, ज़ाहिर है श्रम की इस मण्डी में बच्चों के श्रम की सबसे नीची बोली लगती है। इसलिए उत्पादन बढ़ाकर मुनाफ़ा बढ़ाने का यह दूसरा तरीक़ा बाल मज़दूरी का कभी ख़ात्मा नहीं होने देगा चाहे जितनी चिल्ल-पों मचा ली जाये। यूँ भी सस्ता श्रम निचोड़ने की ज़रूरत मन्दी के दौर से गुज़र रहे इन पूँजीपतियों को आज पहले से कहीं अधिक है। स्थिर पूँजी (मशीनें, तकनोलॉजी) में बग़ैर निवेश किये वे सस्ती से सस्ती दर पर श्रम ख़रीदकर ही अपने मुनाफ़े की गिरती दर पर क़ाबू रख सकते हैं।

मार्क्सवाद के अपने ज्ञान का पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा में इस्तेमाल करने वाला मज़दूर वर्ग का यह ग़द्दार बुद्धदेव भट्टाचार्य और उसकी पार्टी माकपा पूँजी की इस आर्थिक व्यवस्था से अच्छी तरह वाकिफ़ हैं। वे जानते हैं कि जो व्यवस्था बेरोज़गारों की विशाल फ़ौज में हर साल इज़ाफ़ा करती जायेगी, जिसमें ऐश्वर्यी मीनारों के इर्द-गिर्द दरिद्रता का सागर पसरता जायेगा और जहाँ शिक्षा का हक़ सिर्फ़ उसके ख़रीदारों को हासिल हो सकेगा, उसी व्यवस्था के भीतर से लगातार बाल मज़दूरों की क़तारें भी निकलती रहेंगी। इसलिए सीधे-सीधे यह कहने के बजाय कि बाल मज़दूरी तो चलती रहेगी, उन्होंने बात को ज़रा तरल बनाकर कहा कि बच्चों को मज़दूरी से आख़िर रोका कैसे जाये, क्योंकि वे बिचारे तो अपने परिवार की आमदनी में एक हिस्सा योगदान करते हैं! ऐसी धूर्तता की उम्मीद बुद्धदेव जैसों से ही की जा सकती है।

• मीनाक्षी

उन्हें स्त्रियों की अस्मिता या ज़िन्दगी से ज़्यादा प्यारा है मुनाफ़ा!

देश की राजधानी में कामगार महिलाएँ सुरक्षित नहीं

हाल ही के दिनों में दिल्ली में रात की पारी में काम करने वाली महिलाओं के उत्पीड़न की ख़बरें अख़बारों में छपीं। इसके बाद जैसाकि हमेशा होता है अपनी लाज बचाने के लिए सरकार ने कुछ 'सख़्त' दिशा-निर्देश जारी किये। ऐसा लगा मानो सरकार को कामगार महिलाओं की कितनी चिन्ता है। लेकिन सरकार भी जानती है कि इन दिशा-निर्देशों का क्या हश्र होना है। पूँजीपति सर्दियों के इस मौसम में इन्हें अपने फ़ायरबॉक्स में जलाकर हाथ भी सेंक सकते हैं। पूँजीपतियों ने यह साफ़ कह दिया है कि इन दिशा-निर्देशों का पालन करना उनके लिए सम्भव नहीं है। अन्याय व लूट पर टिकी इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए सरकार कुछ नियम-क़ानून (जिसके पालन का भविष्य क्या है उसके बारे में वह भी जानती है।) बनाती है, पर पूँजीपतियों के बीच गलाकाटू होड़ के चलते पूरा पूँजीपति वर्ग इन नियम-क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाता रहता है।

इस बार कामगार महिलाओं की सुरक्षा के बारे में सरकार ने कम्पनियों को कहा है कि रात की पाली में काम करने वाली महिलाओं को सुरक्षित घर छोड़ने की ज़िम्मेदारी कम्पनी की होगी व इसके लिए कुछ सुझाव भी दिये गये हैं जैसेकि महिला कर्मचारी को घर के दरवाज़े तक छोड़ना होगा, आदि। पर मालिकों का कहना है कि वह ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि इससे उनकी प्रचालन लागत (operational cost) बढ़ जाती है! अब पूँजीपति वर्ग अपना मुनाफ़ा बचाये या महिला कामगारों को? इन कम्पनियों ने अपनी प्राथमिकता साफ़ कर दी है कि वे महिलाओं को घर छोड़ने की लागत नहीं उठा सकतीं। जिन्हें काम करना हो करें और अपनी सुरक्षा की व्यवस्था भी करें। यानी, पहले काम पर अपनी मेहनत की लूट झेलें और फिर रास्ते में पूँजीपतियों के अपराधी लौण्डों के हाथों अपनी इज़्ज़त पर भी ख़तरा झेलें।

दरअसल इस व्यवस्था में महिलाएँ शायद ही कहीं सुरक्षित हों। हमारे समाज में कहीं पितृसत्तात्मक ढाँचे में मौजूद पुराने सामन्ती मूल्यों की मौजूदगी के चलते, तो कहीं पूँजीवादी मूल्यों के वर्चस्व के चलते महिलाएँ दोहरे शोषण की शिकार होती हैं। एक तरफ़ कहीं उन्हें मात्र प्रेम करने पर गोली मार दी जाती है, तो कभी दहेज के लिए उन्हें जला दिया जाता है, घरेलू हिंसा व यौन शोषण तो आम बात है। इन मामलों में भी राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश अव्वल नम्बर पर आते हैं, जहाँ कि संस्कृति में सड़े गले पुराने सामन्ती मूल्य कूट-कूटकर भरे हुए हैं। दूसरी ओर जब वह चूल्हे- चौखट की गुलामी से आज़ाद होकर बाज़ार में जाती है तो पूँजीपतियों की गिद्धदृष्टि उनके सस्ते श्रम पर लगी होती है। हम सभी इस कड़वी हकीकत को जानते हैं की समान काम के लिए उन्हें कम वेतन मिलता है। सबसे कठिन व उबाऊ क़िस्म का काम महिला श्रमिकों को मिलता है। कई काम तो ऐसे होते हैं जहाँ महिलाओं को काम करना ही नहीं चाहिए पर उनके पास और कोई चारा भी नहीं होता सिवाय इसके कि मालिक की शर्त पर काम किया जाये। उनकी कोई यूनियन भी नहीं होती जो मालिकों के ख़िलाफ़ संघर्ष में उनका नेतृत्व करे और जहाँ तक परम्परागत अर्थवादी और संशोधनवादी यूनियनों का सवाल है, वह तो महिलाओं का इस्तेमाल मात्र संघर्ष में करते हैं क्योंकि महिला कामगार ख़ूब डटकर संघर्ष करती हैं पर जब उनके अधिकारों की बात आती है तो कोई भी यूनियन उनके मुद्दों को नहीं उठाती। और तो और इसके लिए बाक़ायदा सरकारी क़ानून है कि उनके लिए कार्यस्थल पर पूरी सुविधाओं का इन्तज़ाम हो, अलग शौचालय, शिशु गृह व अन्य सुविधाएँ हों, काम की परिस्थिति ठीक हो, मातृत्व अवकाश मिले, आदि (पर इन क़ानूनों को भी मालिक कभी लागू नहीं करता ताकि अपने मुनाफ़े के मार्जिन को अधिक से अधिक बनाया जा सके।

उधर सामान बेचने के लिए जिस तरह महिलाओं का इस्तेमाल विज्ञापनों में किया जाता है, वह भी इस पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं के यौन उत्पीड़न को बढ़ाता ही है व उन्हें मात्र वस्तुओं में बदलकर उनकी मानवीय गरिमा को तार-तार कर देता है। दरअसल पूँजीवाद के इस नखलिस्तान में देश-दुनिया की उन करोड़ों कामगार औरतों के लिए कोई जगह ही नहीं है जो अपना हाड़-मांस गलाकर मालिकों की तिजोरी भरती चली जाती हैं। इधर जब से नब्बे के दशक के बाद 'उदारीकरण' की लहर चली है तब से मज़दूरों ने पिछले 120 सालों में जो भी अधिकार लड़कर हासिल किये थे उन सब पर लगातार डाका डाला जा रहा है। श्रम क़ानूनों को लचीला करने के नाम पर एक-एक करके उनके सब अधिकार छीने जा रहे हैं।

ज़ाहिर है कि इसकी चोट महिला कामगारों पर भी पड़ रही है। आज स्त्री कामगारों को अपने विशिष्ट मुद्दों पर अलग से भी संगठित होना होगा और साझा मुद्दों पर पुरुष मज़दूरों के साथ भी जुड़कर लड़ना होगा। उन्हें पुरुष साथियों के साथ समानता के लिए भी संघर्ष चलाना होगा। जहाँ उन्हें अपने रोज़मर्रा के अधिकारों के लिए लड़ना होगा, वहीं उन्हें यह भी समझना होगा कि उनकी मुक्ति पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंस और समाजवाद के निर्माण के बिना सम्भव नहीं है। आज उन्हें अपनी सुरक्षा, बराबर वेतन और काम करने योग्य स्थितियों के लिए लड़ते हुए भी अपना दूरगामी लक्ष्य याद रखना होगा। पूरे मज़दूर वर्ग की मुक्ति के बिना स्त्रियों की मुक्ति सम्भव नहीं है और स्त्रियों के संघर्ष को मज़दूर मुक्ति के प्रोजेक्ट का अंग बनाये बिना मज़दूर मुक्ति सम्भव नहीं है।

• मुनीश

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (छठी किस्त)

● आलोक रंजन

इस धारावाहिक लेख की चौथी किस्त 'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' अख़बार के अन्तिम अंक (जून, 2010) में प्रकाशित हुई थी। उसी अख़बार के उत्तराधिकारी के रूप में नवम्बर 2010 में जब 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन शुरू हुआ तो प्रवेशांक में कुछ अपरिहार्य कारणों से इस लेख की अगली किस्त नहीं दी जा सकी। पिछले अंक से पुनः इस धारावाहिक लेख का प्रकाशन शुरू किया गया है जो आगे के अंकों में जारी रहेगा।

– सम्पादक

1947-50 का संक्रमणकाल : क्रमिक पूँजीवादी विकास की आम दिशा का निर्धारण और संविधान की मूल प्रकृति

1947-50 तक का काल एक ऐसा संक्रमण काल था, जब भारतीय पूँजीपति वर्ग ने आंशिक और सीमित अर्थों में विऔपनिवेशीकरण (डीकोलोनाइजेशन) के काम को अंजाम दिया, अर्द्धसामन्ती भूमि सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण की रूपरेखा तैयार की तथा पूँजीवादी विकास की आम नीतियाँ तैयार कीं।

विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया दो अर्थों में आंशिक, अधूरी और सीमित थी। **पहला** इन अर्थों में कि औपनिवेशिक राज्यसत्ता के ढाँचे में आमूलगामी परिवर्तन की जगह कई बुनियादी चीज़ों को बरक़रार रखा गया। ब्रिटिश ढंग-तर्ज़ के बुर्जुआ संसदीय जनवाद के ढाँचे को ऊपर से तो अपना लिया गया लेकिन उपनिवेशवादियों से विरासत में प्राप्त सुव्यवस्थित, सुसंगठित और अनुभव सम्पन्न नौकरशाही में कोई भी फेरबदल नहीं किया गया क्योंकि यह देशी बुर्जुआ शासकों के हितों की रक्षा के लिए भी पूरी तरह अनुकूल थी। सेना और पुलिस प्रशासन के ढाँचे में भी कोई बदलाव नहीं किया गया (हाँ, सत्ता प्राप्ति के कुछ दशकों बाद शासक वर्ग ने अपने अनुभवों और दुनिया के अन्य पूँजीवादी देशों से सीखते हुए नागरिक प्रशासन, पुलिस प्रशासन, और सेना को अधिक आधुनिक और कारगर बनाने का काम अवश्य किया)। कहने के लिए एक "प्रभुसत्ता-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य" का दुनिया का सबसे "वृहदाकार संविधान" अंगीकार किया गया, पर औपनिवेशिक क़ानून व्यवस्था (आईपीसी, सीआरपीसी, सम्पत्ति विषयक क़ानून, जेल मैनुअल, पुलिस मैनुअल आदि) ज्यों के त्यों रखे गये। इस मुद्दे पर आगे यथास्थान विस्तार से चर्चा की जायेगी। जहाँ तक संविधान की बात है, तो उसकी विस्तृत विवेचना तो आगे की ही जानी है। यहाँ सिर्फ़ इतना उल्लेख ही शायद काफ़ी होगा कि औपनिवेशिक 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1935' की 395 धाराओं में से 250 धाराओं को इसमें या तो ज्यों का त्यों या थोड़े बहुत संशोधन के साथ शामिल कर लिया गया। तात्पर्य यह कि औपनिवेशिक अतीत से निर्णायक विच्छेद के बजाय उत्तर औपनिवेशिक भारत के राजनीतिक-प्रशासनिक ढाँचे में औपनिवेशिक अतीत की विरासत पर्याप्त मात्रा में मौजूद थी।

आंशिक अधूरे और सीमित विऔपनिवेशीकरण **दूसरा** पहलू यह था कि सत्तारूढ़ भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवाद, या विश्व पूँजीवादी तन्त्र से, निर्णायक विच्छेद नहीं किया। औपनिवेशिक दौर की तुलना में फ़र्क़ यह पड़ गया कि अब किसी एक साम्राज्यवादी शक्ति के एकाधिकार के बजाय सभी साम्राज्यवादी शक्तियों की लूट और प्रतिस्पर्द्धा के लिए भारतीय बाज़ार के द्वार खुल गये थे। साथ ही, राज्यसत्ता पर नियन्त्रण के चलते, भारतीय पूँजीपति वर्ग अन्तर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठा सकने में और पूँजी एवं तकनोलॉजी लेने तथा अधिशेष की लूट में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने को लेकर साम्राज्यवादियों के साथ मोल-तोल-सौदेबाज़ी कर पाने में अधिक सक्षम हो गया था।

वैसे देखा जाये तो साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों का बुर्जुआ नेतृत्व दुनिया में कहीं भी नहीं कर पाया था। यह केवल वहीं सम्भव हो पाया, जहाँ राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग और उसकी हिरावल पार्टी के हाथों में था। जिन देशों के रैडिकल बुर्जुआ वर्ग ने हथियारबन्द जनसंघर्ष के द्वारा राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को अंजाम देने की कोशिश की, वहाँ भी इसे अधूरा छोड़ दिया गया। तीसरी दुनिया के रैडिकल से रैडिकल बुर्जुआ वर्ग ने सत्तारूढ़ होने के बाद एक सीमा तक ही साम्राज्यवाद विरोधी क़दम उठाये और कुछ वर्षों बाद साम्राज्यवाद के प्रति नरमी और समझौते का रुख़ अपना लिया। कारण स्पष्ट था। साम्राज्यवाद के युग में किसी पिछड़े देश के बुर्जुआ वर्ग के लिए यह सम्भव ही नहीं हो सकता था कि वह विश्व पूँजीवादी तन्त्र से अलग रहकर स्वतन्त्र पूँजीवादी विकास कर सके या विश्व बाज़ार में साम्राज्यवादी चौधरियों का प्रतिस्पर्द्धी बन सके। उनकी तार्किक परिणति यही हो सकती थी कि वे कालान्तर में साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ साझीदार के रूप में विश्व पूँजीवादी तन्त्र में व्यवस्थित हो जायें।

भारत के पूँजीपति वर्ग का चरित्र रैडिकल या क्रान्तिकारी क़तई नहीं था। किसी जनक्रान्ति का नेतृत्व करने की बजाय इसने जनान्दोलनों का इस्तेमाल अंग्रेज़ों पर दबाव बनाने के लिए किया तथा 'समझौता-दबाव-समझौता' का लम्बा, विश्वासघातपूर्ण और कुटिल मार्ग अपनाकर (और विश्व परिस्थितियों का लाभ उठाकर) सत्ता हासिल की।

1947 के तुरन्त बाद की स्थिति यदि देखें तो अर्थव्यवस्था की मुख्य शाखाओं में विदेशी पूँजी की, और उसमें भी मुख्यत: ब्रिटिश पूँजी की प्रभावी स्थिति बनी हुई थी। भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र पहलक़दमी और कार्यवाही का दायरा अत्यन्त संकीर्ण था। अभी भी भारतीय अर्थव्यवस्था की औपनिवेशिक संरचना तथा विदेशी पूँजी (मुख्यत: ब्रिटिश पूँजी) का प्रभुत्व ही अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन की प्रणाली के भीतर भारत का स्थान निर्धारित करते थे। भारत में विदेशी निवेश के प्रथम सर्वेक्षण (जून, 1948) के अनुसार, प्रमुख उद्योगों पर विदेशी निवेश का प्रभुत्व क़ायम था और कुल विदेशी पूँजी निवेश का 72 प्रतिशत ब्रिटिश था। पहले की ही तरह, भारत अभी भी औद्योगिक पूँजीवादी देशों में, विशेषकर ब्रिटेन के लिए मुख्यत: कच्चे माल की पूर्ति करने वाला एक पुछल्ला देश बना हुआ था। लेकिन 1947-50 के दौरान ही इस स्थिति में क्रमिक बदलाव की शुरुआत हो चुकी थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय, भारत को ब्रिटेन से 1500 करोड़ रुपये (पौण्ड-पावने के रूप में, जो युद्धकाल के दौरान सँचित हुई थी) पाने थे। जुलाई, 1948 में हुए आंग्ल भारतीय समझौते के तहत इसमें से 1000 करोड़ रुपये का उपयोग औद्योगिक क्षमता के आधुनिकीकरण और विस्तार में प्रयुत पूँजीगत उपस्कर प्राप्त करने के लिए किया गया। शेष 500 करोड़ रुपये सामरिक उपकरणों और पूर्व ब्रिटिश अधिकारियों की पेंशन के मद में डाल दिये गये। यह समझौता भारत के औद्योगिक विकास पर ब्रिटिश इजारेदारी के प्रभाव को बनाये रखने में सहायक तो सिद्ध हुआ, लेकिन यह न तो प्रतिस्पर्द्धी अमेरीकी, जापानी और पश्चिमी जर्मनी पूँजी की भारतीय बाज़ार में घुसपैठ को रोक सका, न ही भारतीय पूँजीपति वर्ग द्वारा अपनी स्थिति के सुदृढ़ीकरण को बाधित कर सका। पूँजी की कमी और तकनोलॉजी के पिछड़ेपन के शिकार भारतीय पूँजीपति वर्ग ने 1947-50 के बीच विभिन्न साम्राज्यवादी देशों की कम्पनियों के साथ मोटर कार व ट्रैक्टर-असेम्बलिंग, साइकिल और उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में 88 मिश्रित कम्पनियाँ स्थापित कीं। औद्योगीकरण में अमेरिकी वित्तीय और तकनीकी सहायता के लिए विशेष कोशिश की गयी। इस उद्देश्य से नेहरू ने अक्टूबर-नवम्बर 1949 में अमेरिका की यात्रा भी की। इससे भारत में अमेरिकी पूँजी-प्रवाह को बल मिला और आने वाले वर्षों में दोनों देशों के बीच व्यापक आर्थिक सहकार का मार्ग प्रशस्त हुआ। लेकिन आर्थिक रूप से कमजोर होते हुए भी विदेश नीति के मामले में भारतीय पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों ने पर्याप्त राजनीतिक चातुर्य का प्रदर्शन किया। गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाते हुए इसने अमेरिकी राजनीतिक- सामरिक गुट में शामिल होने से इंकार कर दिया तथा सभी साम्राज्यवादी देशों से रिश्ते बनाकर उनकी आपसी होड़ का लाभ उठाने की पूरी कोशिश की। उल्लेखनीय है कि सितम्बर, 1946 में ही कांग्रेस की अन्तरिम सरकार इस विदेश नीति की घोषणा कर चुकी थी। 1948 में कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन ने उपनिवेशवाद विरोध, शान्ति, तटस्थता और गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुमोदन किया। हालाँकि 1947-50 के बीच ही इस नीति का दुरंगापन ज़ाहिर हो चुका था। जैसेकि, मुँहजुबानी हो ची मिन्ह सरकार का समर्थन करते हुए भी भारत सरकार ने व्यवहारत: ब्रिटेन की मलाया नीति का समर्थन किया। इण्डोनेशिया में जारी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के मामले में भी उसने ऐसा ही किया। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने निर्गुट देशों के मंच का इस्तेमाल वस्तुत: साम्राज्यवादी देशों से सौदेबाज़ी के लिए नवस्वाधीन देशों के समान चरित्र वाले शासक वर्गों को साथ लेने के लिए किया। यही नहीं, साम्राज्यवादी देशों पर दबाव बनाने के लिए उसने समाजवादी शिविर के साथ भी सम्बन्ध बनाये। आगे चलकर इसी नीति को विस्तार देते हुए सोवियत संघ में ख्रुश्चेव काल में समाजवाद के पतन के बाद, सोवियत साम्राज्यवादी शिविर से नज़दीकी बढ़ाकर नरम शर्तों पर आर्थिक-तकनीकी-सामरिक मदद हासिल करने के साथ ही भारतीय शासक वर्ग ने अमेरिकी दबाव का सफलतापूर्वक मुक़ाबला भी किया। कुल मिलाकर, अन्तर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार होते हुए भी, किसी एक साम्राज्यवादी ताक़त का दुमछल्ला होने से बचा रहा। उसने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का लाभ उठाकर अपने आर्थिक विकल्पों को लगातार बहुमुखी बनाये रखा तथा अपने आर्थिक आधारों का सुदृढ़ीकरण-विस्तारीकरण करता रहा।

सत्ता प्राप्ति के तत्काल बाद संरक्षणकारी सीमाशुल्क तथा निजी विदेशी पूँजी के क्रियाकलापों पर प्रतिबन्ध लगाकर नेहरू सरकार ने देशी पूँजी की महत्त्वपूर्ण सहायता की। 1948 में औद्योगिक निर्माण के लिए वित्त उपलब्ध कराने के उद्देश्य से राजकीय औद्योगिक वित्त आयोग क़ायम किया गया। प्रारम्भिक पूँजी-संचय की समस्या को हल करने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग ने विदेशों से पूँजी आयात को प्रमुखता देने के बजाय देश के प्रत्यक्ष उत्पादकों को निचोड़ने पर बल दिया। आम जनता को लूटकर वह पैसा चूँकि सीधे पूँजीपति वर्ग को नहीं दिया जा सकता था, इसलिए सार्वजनिक क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र और निजी क्षेत्र वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था का रास्ता अपनाया गया। ज़्यादातर आधारभूत और अवरचनात्मक उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित करने का निर्णय लिया गया। इनमें बहुत कम मुनाफ़ा था, पर इनके बल पर निजी क्षेत्र भारी मुनाफ़ा कमाकर अपनी पूँजी का विस्तार कर सकता था। उस समय भारतीय पूँजीपति वर्ग आधारभूत और अवरचनागत उद्योग स्थापित कर पाने की क्षमता नहीं रखता था, अत: यह काम जनता की गाढ़ी कमाई से किया गया (और आगे चलकर जब उसकी क्षमता हो गयी तो औने-पौने दामों पर सार्वजनिक उपक्रमों को उसे बेचा जाने लगा)। बुनियादी और ढाँचागत उद्योग को विदेशी पूँजी के प्रभुत्व से बचाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवाद की नवऔपनिवेशिक जकड़बन्दी से बचाये रखना चाहता था (ज़ाहिर है साम्राज्यवादी लूट की छूट तो उसे देनी ही थी)। अप्रैल, 1948 में संविधान सभा में नेहरू ने मिश्रित अर्थव्यवस्था वाली औद्योगिक नीति की घोषणा की। जुलाई, 1948 में भारतीय रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ। 1949 में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के द्वारा निजी संयुक्त पूँजी बैंकों पर एक हद तक राजकीय नियन्त्रण स्थापित किया गया। स्वतन्त्रता के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में, विभाजन से पैदा हुई अव्यवस्था के कारण खाद्य पदार्थों और आवश्यक वस्तुओं का भारी अभाव हो गया था। 1947-50 के बीच सरकार ने 1 करोड़ टन अनाज का आयात किया तथा 1948 से आवश्यक खाद्य पदार्थों की राशनिंग लागू की गयी। इस दौर में चोर बाज़ारी, जमाखोरी, वायदा-कारोबार और सट्टेबाज़ी के द्वारा कुछ लोगों ने विराट सम्पदाएँ बना लीं और पूँजी के प्रारम्भिक संचय की प्रक्रिया तेज़ हो गयी। 1949 तक आर्थिक स्थिरता का माहौल बनने लगा था और सम्पत्ति- शाली वर्गों ने अपना सँचित धन उद्योगों में स्थानान्तरित करना शुरू कर दिया।

भारतीय पूँजीपति वर्ग इस बात को भली-भाँति समझता था कि अपने औद्योगिक उत्पादन के लगातार विस्तार के लिए उसे कच्चे माल के अधिकाधिक स्रोत चाहिए होंगे और अपने उत्पादों के लिए एक व्यापक, विकासमान, राष्ट्रीय बाज़ार की दरकार होगी। जिस देश की 85 फ़ीसदी आबादी गाँवों में रहती हो तथा अर्द्धसामन्ती भूदासता के बन्धनों में जकड़ी हो, वहाँ भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादीकरण के बिना राष्ट्रीय बाज़ार का निर्माण सम्भव ही नहीं था। समस्या यह थी कि भारतीय पूँजीपति वर्ग भूमि क्रान्ति के काम को क्रान्तिकारी तरीक़े से अंजाम नहीं दे सकता था, क्योंकि उसे भय था कि तब जनवादी क्रान्ति के कामों को एक झटके से पूरा करते हुए जनता आगे बढ़ जायेगी और कमान उसके हाथ से छूट जायेगी। वह किसानों की पहलक़दमी और ऊर्जा को निर्बन्ध नहीं करना चाहता था। वह यूरोप के क्लासिकी पूँजीपति वर्ग की तरह जनवादी क्रान्ति नहीं कर सकता था।

भारतीय पूँजीपति वर्ग 'पुनर्जागरण-प्रबोधन क्रान्ति' के ज़रिये सत्तासीन नहीं हुआ था। यह 'कृषि-दस्तकारी-उद्योग' की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुआ था। यह औपनिवेशिक सामाजिक आर्थिक-संरचना में पला-बढ़ा था और 'समझौता-दबाव-समझौता' के ज़रिये सत्ता तक पहुँचा था। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भी यह

(पेज 14 पर जारी)

तिरुपुर (तमिलनाडु) के मज़दूर आत्महत्या पर मजबूर

मज़दूरों को संगठित संघर्ष की राह अपनानी होगी

बिगुल संवाददाता

तमिलनाडु के तिरुपुर ज़िले में जुलाई 2009 से लेकर सितम्बर 2010 के भीतर 879 मज़दूरों द्वारा आत्महत्या की घटनाएँ सामने आयी हैं। 2010 में सितम्बर तक 388 मज़दूरों ने आत्महत्या की जिनमें 149 स्त्री मज़दूर थीं। सिर्फ़ जुलाई-अगस्त 2010 में 25 स्त्रियों सहित 75 मज़दूरों ने अपनी जान दे दी। दिल दहला देने वाले ये आँकड़े भी अधूरे हैं। ये आँकड़े आत्महत्या करने वाले मज़दूरों की महज़ वह संख्या बताते हैं जो काग़ज़ों पर दर्ज हुई है। इससे भी अधिक दिल दहला देने वाली बात यह है कि इस ज़िले में हर रोज़ आत्महत्याओं की औसतन बीस कोशिशें होती हैं। राज्य अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आँकड़े बताते हैं कि इस ज़िले में तमिलनाडु के दूसरे ज़िलों के मुक़ाबले पिछले तीन वर्षों में कहीं अधिक आत्महत्याओं की घटनाएँ हो रही हैं।

तिरुपुर ज़िला वस्त्र उद्योग का गढ़ है। इस उद्योग से सम्बन्धित यहाँ लगभग 6200 औद्योगिक इकाइयाँ हैं जिनमें लगभग चार लाख मज़दूर काम करते हैं। इन मज़दूरों को बेहद अमानवीय परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। मालिकों द्वारा उनके अन्धे शोषण की वजह से वे नारकीय जीवन जीने पर मजबूर हैं। इन मज़दूरों का तीसरा हिस्सा झोपड़-पट्टियों में रहने पर मज़बूर है। इनमें से 80 प्रतिशत यानी लगभग तीन लाख बीस हज़ार मज़दूर अन्य राज्यों से आये प्रवासी हैं। प्रवासी मज़दूरों का 60 प्रतिशत झोपड़-पट्टियों में रहता है। मज़दूरों को बेहद कम वेतन पर गुज़ारा

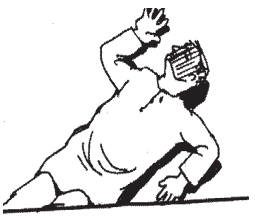

करना पड़ता है। वे दवा-इलाज का ख़र्च भी नहीं उठा पाते हैं। सप्ताह में 90-100 घण्टे की कमरतोड़ मेहनत करने पर भी वे जीवन की बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी नहीं कर पा रहे हैं। जुलाई से दिसम्बर तक काम बहुत ठप्प रहता है जिससे मज़दूरों को भयंकर बेरोज़गारी का सामना करना पड़ता है। साथ ही लगातार बढ़ रही महँगाई उनकी समस्याओं को कई गुणा बढ़ा रही है।

ग़ौरतलब है कि इन कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। यहाँ के पूँजीपतियों को महिलाओं से काम लेने में अत्यधिक दिलचस्पी का अन्दाज़ा आप इस बात से लगाइये कि स्त्री मज़दूरों के लिए अलग से होस्टल (लेबर कैम्प) बनाये गये हैं। 15-21 की उम्र की स्त्री मज़दूरों को इन होस्टलों में रखा जाता है। उनसे वादा किया जाता है कि तीन वर्ष के काम के बाद उन्हें अलग से पचास हज़ार रुपये दिये जायेंगे। इन लेबर कैम्पों में रहने वाली मज़दूरों को इधर-उधर जाने पर पाबन्दी है। ख़रीददारी आदि के लिए शहर जाने के लिए स्पेशल गाइड टूर बनाया जाता है।

इन बदहाल परिस्थितियों के साथ ही मज़दूरों के पास संगठित ताक़त का न होना हालात को और भी बदतर बना देता है। लगभग दस प्रतिशत मज़दूर सीटू जैसी अवसरवादी यूनियनों के साथ जुड़े हैं। लेकिन दन्त-नखविहीन इन संगठनों का कोई मतलब नहीं है।

जीवन की भयंकर परिस्थितियों के सामने हार मानने वाले मज़दूर आत्महत्याओं का क़ायरतापूर्ण रास्ता अपना रहे हैं। मज़दूरों के सामने एकमात्र सही राह तो यही है कि मेहनत करने वालों को बदहाल परिस्थितियों में धकेलने वाली पूँजीवादी व्यवस्था की क़ब्र खोदी जाये। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर अपने हक़-अधिकारों के लिए संगठित लड़ाई लड़ते हुए इतनी ताक़त जुटायी जाये, ताकि एक दिन हम इस मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था को ही चकनाचूर कर दें। ●

माइक्रो फ़ाइनेंस : महाजनी का पूँजीवादी अवतार

पिछले कुछ महीनों में आन्ध्र प्रदेश में ग़रीबों की आत्महत्याओं के कई मामले सामने आये हैं। आत्महत्या करने वाले ज़्यादातर लोग ऐसे थे जिन पर किसी न किसी माइक्रो फ़ाइनेंस संस्था का क़र्ज़ था। माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाओं के बर्बर और शोषक चरित्र के इस नग्न रूप में सामने आने पर प्रदेश एवं देश के हुक्मरानों में खलबली मची हुई है। इन माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाओं को ग़रीबी हटाओ मुहिम के अग्रदूत के रूप में बढ़ावा दिया गया था लेकिन ग़रीबी तो नहीं हट रही है, हाँ इन संस्थाओं द्वारा लादे गये भारी क़र्ज़ के बोझ से ग़रीबों का ही सफ़ाया हो रहा है। बुर्जुआ मीडिया जो कल तक ऐसी संस्थाओं के गुणगान में लगा था, उसमें भी ऐसी संस्थाओं की आलोचनाएँ शुरू हो गयी हैं।

माइक्रो फ़ाइनेंस एक नयी परिघटना के रूप में लगभग 2 दशक पहले ख़ासकर तीसरी दुनिया के देशों में ग़रीबी हटाने के उपक्रम के नाम पर विश्व पूँजीवाद के पटल पर आया। चूँकि पूँजीवादी बैंकों से क़र्ज़ लेने के लिए एक निश्चित सम्पत्ति होना अनिवार्य होता है, अत: बहुसंख्यक ग़रीब आबादी इन बैंकों की पहुँच से बाहर ही रहती है। पारम्परिक रूप से ग़रीब अपनी खेती और पारिवारिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए गाँव के महाजन या साहूकार द्वारा दिये गये क़र्ज़ पर निर्भर रहते थे। ऐसे क़र्ज़ों पर ब्याज़ दर बहुत अधिक हुआ करती थी जिसकी वजह से ग़रीबों की आमदनी का एक बड़ा हिस्सा ब्याज़ चुकाने में निकल जाता था और इस प्रकार वे एक दुष्चक्र में फँस जाते थे। गाँव के ग़रीबों को महाजनों और साहूकारों से मुक्ति दिलाने और उनको ग़रीबी के दुष्चक्र से बाहर निकालने के नाम पर पिछले 2 दशकों में माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाओं को ख़ूब बढ़ावा दिया गया। ऐसी संस्थाएँ ग़रीबों को एक समूह (सेल्फ़ हेल्प ग्रुप) में संगठित करती हैं और एक व्यक्ति के बजाय पूरे समूह को क़र्ज़ देती हैं। ऐसे समूहों को छोटे-मोटे उपक्रम जैसे टोकरी बनाना, पापड़ बनाना, अचार बनाना, मुर्ग़ी पालन इत्यादि में निवेश के लिए प्रेरित किया जाता है। महिला सशक्तीकरण के नाम पर महिलाओं को ऐसे समूहों में वरीयता दी जाती है। सतही तौर पर देखने में किसी को भी यह भ्रम हो सकता है कि ये संस्थाएँ वाक़ई ग़रीबी हटाने के प्रयास में संलग्न हैं। लेकिन इन संस्थाओं की संरचना, काम करने का तरीक़ा, फ़ण्डिंग के स्रोत, इनके द्वारा दिये गये क़र्ज़ पर ब्याज़ की दरों की गहरायी से पड़ताल करने पर इनके मानवद्रोही चरित्र का पर्दाफ़ाश हो जाता

है और हम इस घिनौनी सच्चाई से रूबरू होते हैं कि दरअसल ऐसी संस्थाएँ ग़रीबों का महाजनों और साहूकारों से भी अधिक बर्बर क़िस्म का शोषण करती हैं और ग़रीबों का ख़ून चूसकर इनके संस्थापक और शीर्ष अधिकारी अपनी तिजोरियाँ भरते हैं।

माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाएँ एक व्यक्ति के बजाय समूह को क़र्ज़ और महिलाओं को वरीयता इसलिए देती हैं ताकि क़र्ज़ का भुगतान सुनिश्चित हो सके। इनकी क़र्ज़ भुगतान की दर लगभग 100 प्रतिशत होती है, ऐसी दर जो बड़े से बड़े बैंकों को भी ठेंगा दिखाती है। इसका राज़ यह है कि क़र्ज़ का निश्चित समय पर भुगतान न करने पर ये संस्थाएँ गुण्डों और मुश्टण्डों की सेवा लेने में ज़रा भी नहीं हिचकती हैं। ये संस्थाएँ प्राय: हर हफ़्ते ब्याज़ वसूल करती हैं। इनके द्वारा वसूले गये ब्याज़ की दर 28-30 प्रतिशत और कई मामलों में इससे भी ज़्यादा हुआ करती है। इन संस्थाओं के साथ ही साथ इस पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के अमानवीय चरित्र को इसी बात से समझा जा सकता है कि एक ओर तो खाते-पीते मध्य वर्ग के ऐशो-आराम के लिए ज़रूरी साजो-समान जैसे कार, फ़्रिज़, एयर कण्डीशनर, फ़्लैट इत्यादि के लिए 6-10 प्रतिशत की सस्ती दरों पर ऋण उपलब्ध है, वहीं ग़रीबी हटाने के लिए जो क़र्ज़ ग़रीबों को दिया जाता है उसकी ब्याज़ दर 30 प्रतिशत या उससे भी ज़्यादा है। इसके अतिरिक्त माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाएँ समाज कार्य के नाम पर बैंकों से बेहद सस्ती दरों पर ऋण (प्रिओरिटी सेक्टर लेण्डिंग के तहत) लेकर अत्यधिक ऊँची दरों पर ग़रीबों को ऋण देने का घृणित कारोबार करती हैं। वास्तव में, सूक्ष्म ऋण एक तीर से कई निशाने लगाता है। इसका एक लाभ तो यह है कि यह गाँवों की ग़रीब आबादी को तबाह होने से नहीं बचाता बल्कि लम्बे समय तक भ्रम में रखने के बाद तबाह करता है। दूसरा लाभ – यह गाँवों से होने वाले प्रवास की गति को धीमा करता है और गाँवों की ग़रीब आबादी को लम्बे समय तक भुखमरी के स्तर पर ज़िन्दा रखता है। तीसरा लाभ – वित्तीय पूँजी के मुनाफ़े को इससे तेज़ रफ़्तार से बढ़ाने के रास्ते कम ही हैं। दूसरा ऐसा रास्ता है सबप्राइम ऋण, लेकिन सूक्ष्म ऋण इससे भी भयंकर और क्रूर है क्योंकि इसकी पहुँच सबसे ग़रीब आदमी तक है इसलिए, यह उसे तबाह करता है और इसके अलावा, इसकी ब्याज़ दर दस में आठ मामलों में सबप्राइम ऋण से भी ज़्यादा होती है। चौथा लाभ – यह सब कुछ करके तथा और भी बहुत कुछ करके पूँजीवादी व्यवस्था की उम्र बढ़ाने का काम करता है, क्योंकि यह ग़रीबों का भ्रम टूटने के वक़्त को बढ़ाता है और मध्यवर्ग के तमाम इंसाफ़पसन्द नौजवानों के दिमाग़ में भी पूँजीवाद का नक़ली मानवीय चेहरा पेश कर एक वहम पैदा करता है। यह पूँजीवाद के अन्तरविरोधों के तीखा होने की रफ़्तार को धीमा कर देता है। इसीलिए, तो मोहम्मद यूनुस को अर्थशास्त्र का नहीं बल्कि शान्ति का नोबेल पुरस्कार मिला।

माइक्रो फ़ाइनेंस के जनक मोहम्मद युनुस को 2006 में नोबल पुरस्कार दिये जाने के बाद तो माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाओं की और भी चाँदी हो गयी। ग़रीबों के रक्तचूषक उद्यमियों को ग़रीबों का मसीहा और विश्व शान्ति के दूत का तमगा मिल गया। अब अकूत मुनाफ़ा कमाने के साथ-साथ समाज सेवक होने का रुतबा भी हासिल किया जा सकता है। माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाओं में शीर्षपदों पर नियुक्त मैनेजमेण्ट कर्मियों की तनख़्वाह, बोनस और भत्ते कॉर्पोरेट सेक्टर के समकक्ष होती है और कई मामलों में तो उससे भी ज़्यादा होती है। देश की सबसे बड़ी माइक्रो फ़ाइनेंस संस्था एस.के.एस. माइक्रो फ़ाइनेंस (स्वयं कृषि संगम सूक्ष्म ऋण) के मुनाफ़े की दर में 2007 में 700 प्रतिशत की वृद्धि पायी गयी। अभी हाल में ही इस संस्था ने शेयर मार्केट से पूँजी उठाने के लिए अपना आईपीओ भी निकाला जो काफ़ी सफल रहा। ग़ौरतलब है कि आन्ध्र में आत्महत्या करने वाले ज़्यादातर किसानों ने इसी संस्था से क़र्ज़ लिया था। इस संस्था के संस्थापक विक्रम अकुला को 2006 में टाइम मैगजीन ने विश्व के 100 ऐसे लोगों की श्रेणी में रखा था जिन्होंने इस दुनिया की शक्ल बदल दी। 2010 तक आते-आते दुनिया को पता चल चुका है कि विक्रम अकुला जैसे लोगों ने इस दुनिया की शक्ल को कितना पहले से भी ज़्यादा बदनुमा बना दिया है। यहाँ तक कि बुर्जुआ मीडिया के पोस्टर बॉय और नैतिकता के प्रतिमूर्ति माने जाने वाले नारायणमूर्ती भी अपनी पूँजी एस.के.एस. माइक्रो फ़ाइनेंस में लगाकर ग़रीबों का भला करने के नाम पर अपनी तिजोरी भर रहे हैं। ऐसी संस्थाओं में देशी पूँजीपतियों के अलावा बड़े पैमाने पर साम्राज्यवादी पूँजी भी लगी हुई है।

यकायक आत्महत्याओं के कई मामलों के आने के बाद आन्ध्र प्रदेश सरकार ने जनरोष की आग को ठण्डा करने के लिए माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाओं को नियन्त्रित करने वाला एक अध्यादेश पास किया। मीडिया में चहुँओर आलोचना होने के बाद रिज़र्व बैंक भी हरकत में आ गया और माइक्रो फ़ाइनेंस संस्थाओं की गतिविधियों पर क़ाबू पाने के लिए एक समिति के गठन की घोषणा कर दी गयी। लेकिन यह सर्वविदित है कि इन सारी क़वायदों का मक़सद ग़रीबों का हित नहीं बल्कि बस यह है कि ऐसी घटनाओं को घटने से रोकने का कम से कम नाटक किया जाये और कुछ हद तक इसकी रफ़्तार में थोड़ी कमी लायी जाये, जिससे कि इस समूची व्यवस्था के घोर जनविरोधी होने की नंगी तस्वीर सामने उभरकर आती है। ग़रीबों और वंचितों के जीवित रहने के मानवाधिकार की रक्षा इस पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में सम्भव ही नहीं है, क्योंकि पूँजीवादी लुटेरे ग़रीबों के ख़ून का एक-एक क़तरा चूसने के लिए दिन-प्रतिदिन नयी-नयी तरक़ीब निकालते रहते हैं। माइक्रो फ़ाइनेंस ऐसी ही एक घृणित पूँजीवादी तरक़ीब है।

● आनन्द

एलाइड निप्पोन में सीटू की ग़द्दारी के कारण आन्दोलन दमन का शिकार और मज़दूर निराश

(पेज 7 से आगे)

के साथ इलाक़े की आम जनता तथा सामाजिक सरोकार रखने वाले संगठनों और लोगों की एकजुटता से इन संघर्षों की जीत हुई है। क़ानूनी कार्रवाई व ज्ञापन देने के साथ-साथ घेरा डालो और डेरा डालो की नीति से पूर्ण हड़ताल से ही जीत हासिल हुई है। मात्र यही एक सही रास्ता हो सकता है जो एलाइड निप्पोन के मज़दूरों को भी समझना होगा और अपनाना होगा। फ़िलहाल, यह संघर्ष पीछे की तरफ़ जा रहा है। ऐसे में मज़दूरों को दो घड़ी सुस्ताकर नये सिरे से संगठित होना होगा, सीटू जैसे मज़दूर वर्ग के गद्दारों को किनारे करना होगा, और अपनी यूनियन के दम पर अन्त तक लड़ने की इच्छाशक्ति के साथ हड़ताल करनी होगी, इलाक़ाई पैमाने पर मज़दूरों को साथ लेना होगा और क़ानूनी क़दमों के साथ-साथ पूर्ण हड़ताल के साथ शोषण का चक्का जाम करना होगा।

●

हैरिंग इण्डिया में मज़दूरों का शानदार संघर्ष और अर्थवादी सीटू का विश्वासघात

बिगुल संवाददाता

हैरिंग इण्डिया प्रा. लिमिटेड मोहन नगर, गाज़ियाबाद में स्थित एक कारख़ाना है। इस कारख़ाने में ट्रैक्टर और उसके पुर्ज़े एवं हाईड्रोलिक लिफ़्ट बनाने का काम होता है। जिन दिनों साहिबाबाद के एलाइड निप्पोन के मज़दूरों का आक्रोश अख़बारों में चर्चा का विषय था, उन्हीं दिनों इस कारख़ाने के मज़दूर भी संघर्ष कर रहे थे। मालिक, प्रशासन व श्रम विभाग की तिकड़ी के मकड़जाल से क़दम-क़दम पर मज़दूर आज भी दो-चार हो रहे हैं। 6 मज़दूर जिन्हें हैरिंग के मालिकान ने बेवजह काम से बाहर कर दिया था, उन्हें दोबारा काम पर रखे जाने का सवाल अधर में है। पिछले एक साल में हैरिंग इण्डिया के मज़दूरों की एकजुटता यूनियन के रूप में सामने आयी। प्रबन्धन ने अपनी तमाम तीन-तिकड़मों से मज़दूरों की एकजुटता तोड़ने की कई कोशिशें की, लेकिन वे असफल रहे। यह रिपोर्ट उन्हीं संघर्षरत मज़दूरों के बारे में है।

इस कारख़ाने में क़रीब 150 स्थायी मज़दूर, 125 ठेका मज़दूर के तहत और 72 लोगों का स्टाफ़ है। कॉण्ट्रेक्टर के रूप में यहाँ आईकॉन, जीएमडी और अंजू की कम्पनी (जो कि यहाँ पहले एच.आर. विभाग में थी) काम करती हैं। इन तीनों ठेका कम्पनियों को प्रबन्धन क्रमवार बदल-बदलके ठेका देता है। नतीजतन लम्बे समय से काम करते रहने के बावजूद ठेका का मज़दूर हर बार नये ठेके के तहत ही होता है। प्रबन्धन मज़दूरों पर दबाव बनाने के लिए यदा-कदा बाहरी तत्त्वों का सहारा लेता रहा है। मज़दूरों का बेवजह मानसिक व आर्थिक उत्पीड़न करते रहने में तमाम कारख़ानों की भाँति यहाँ का प्रबन्धन भी पीछे नहीं रहा है। बताते हैं कि इसी फ़ैक्टरी में 1978 के दौर में प्रबन्धन के गुण्डों व मज़दूरों के बीच जमकर मारपीट हुई थी। मालिकों की गुण्डावाहिनी का जवाब मज़दूरों ने अपनी एकजुटता से दिया था। उस समय हुई गोलाबारी में कई मज़दूर व मालिक वर्ग के लोग हताहत हुए। इस घटना के कई साल बाद सन् 1984 में मज़दूरों ने एक बार फिर अपने हक़-हुकूक को लेकर गोलबन्द होने की कोशिश की तो एक बार फिर प्रबन्धन ने मज़दूरों की एकजुटता को तोड़ने का काम किया। और तब से तमाम कारख़ानों की तरह हैरिंग इण्डिया में भी मज़दूरों को काम करने वाली मशीन बनाकर रख दिया गया।

मज़दूरों के उत्पीड़न में लगा हैरिंग इण्डिया प्रबन्धन बुनियादी क़ानूनी हक़ों की भी अनदेखी करता रहा है। अब तक न तो वर्दी मिलती रही, न ही जूते व सुरक्षा उपकरण मिलते रहे हैं। मज़दूरों से ओवरटाइम कराने के बावजूद उसका भुगतान दोगुना रेट पर करना तो छोड़ो, वे इस दौरान किये अतिरिक्त घण्टों के काम को जब कारख़ाना में काम नहीं रहता था उन घण्टों में एडजस्ट कर देते रहे हैं। जब मज़दूरों ने आगे चलकर इसका प्रतिकार किया, तब एक निर्णय के तहत वे ग्रेड के अनुरूप 13 व 15 रुपये प्रतिघण्टा की दर से ओवरटाइम का भुगतान करने लगे। इससे सहज अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि ये कितनी मज़दूरी देते रहे हैं। जब दुनियाभर में मन्दी की छाया मँडरा रही थी, वर्ष 2008 के समय बहुत सारे मज़दूरों ने महज मट्ठी व चाय पर ओवरटाइम किया। मालिक के मुनाफ़े की ख़ातिर अपने बच्चों को दिये जाने वाले समय में मालिक का मुनाफ़ा बढ़ाने का काम किया। क़रीब 6 सालों से वेतन बढ़ोत्तरी न दिये जाने को लेकर मज़दूरों ने प्रबन्धन को माँगपत्रक सौंपा और श्रम विभाग में भी इसकी प्रतिलिपि दी। न तो प्रबन्धन ने बात मानी, न ही श्रम विभाग ने कोई दबाव डाला। इसके बजाय प्रबन्धन यह कहने लगा कि कम्पनी तो घाटे में चल रही है। जबकि हक़ीक़त तो यह है कि प्रतिदिन इस कम्पनी में लगभग 92 लिफ़्टें बनती हैं। एक क्रिश लिफ़्ट की क़ीमत 14,000 रुपये व एक फ़ोर्ड लिफ़्ट की क़ीमत 11,000 रुपये है। इस प्रकार गणना की जाये तो एक दिन में इतनी कमाई हो जाती है कि सारे मज़दूरों का पूरा वेतन निकल आता है। ऐसे हालात में हैरिंग इण्डिया के मज़दूरों के सामने अपनी एकजुट ताक़त दिखाने के अलावा और कोई राह नहीं बची थी।

संगठनबद्ध हो संघर्ष की शुरुआत

हैरिंग इण्डिया के मज़दूरों ने धीरे-धीरे अपने आपको संगठनबद्ध करना शुरू किया। अन्ततः उन्हें 23 दिसम्बर, 2009 को हैरिंग इण्डिया इम्प्लाइज यूनियन के नाम से पंजीकरण प्राप्त हुआ। 8 फ़रवरी 2010 को यूनियन ने हैरिंग इण्डिया के प्रबन्धन को अपना माँगपत्रक सौंपा जिसमें वेतन बढ़ोत्तरी से लेकर उन तमाम मुद्दों को रखा गया जिनसे मज़दूर दो-चार हो रहे थे। लेकिन प्रबन्धन ने न तो कोई जवाब न ही दिया और न ही कोई सहमति प्रकट की। श्रम विभाग ने यूनियन व प्रबन्धन को वार्ता हेतु 3 अप्रैल 2010 की तारीख़ मुकर्रर की। मज़दूर आने वाली वार्ता की तारीख़ को ध्यान में रखकर काम में शान्तिपूर्वक जुट गये। लेकिन मालिकों को चैन कहाँ। उन्होंने मज़दूरों पर दबाव बढ़ाना शुरू कर दिया। उकसावेबाज़ी की हरकतें की जाने लगीं। इसी काम में महारत हासिल कर चुके किसी कर्नल कुंवर सिंह खटाना को एच आर के हेड पर नियुक्त किया गया। इनकी विशेषता बताते हुए मज़दूर कहते हैं कि ये फ़रीदाबाद व गुड़गाँव में यूनियन तोड़ने वाले के रूप जाने जाते हैं। और यहाँ भी इन्हें मज़दूरों की यूनियन तोड़ने की विशेषज्ञता प्राप्त व्यक्ति के तौर पर ही लाया गया है। कारख़ाने में आते ही कर्नल खटाना अपने तानाशाही तरीक़े को व्यवहार में अमल करते हुए मज़दूरों पर दबाव बनाने लगे। इनके तमाम हथकण्डों को मज़दूरों ने अपने धैर्य से बेकार कर दिया तो प्रबन्धन की तरफ़ से एक नया तरीक़ा अपनाया गया। 10 मार्च, 2010 को कारख़ाने में 30-40 की संख्या में बाहरी तत्वों को भर्ती किया गया। रात की शिफ़्ट के लोगों को 11 मार्च 2010 की सुबह ड्यूटी ख़त्म होने के पहले बाहर धकेला जाने लगा। मैनेजमेण्ट जानबूझकर झगड़ा-फ़साद कराकर मज़दूरों को फँसाने की चाल चलने लगा। यह बात मज़दूर भाँप गये। जब वे बाहर निकल आये तो यही बात सुबह की शिफ़्ट में आये मज़दूरों को बतायी। इसी दौरान प्रबन्धन ने 12 लोगों को बेवजह सस्पेंड कर दिया। इसमें यूनियन के पदाधिकारीगण व कार्यकारिणी के सदस्यों को ख़ासतौर पर निशाना बनाकर घेरा गया था। जब मज़दूर सुबह की शिफ़्ट में अन्दर जाने के लिए गेट पर पहुँचे तो उन्हें चेन लगाकर रोक दिया गया। इस पर मज़दूरों ने गेट पर एकत्रित होना शुरू कर दिया और यह माँग करने लगे कि जो बाहरी लोग अन्दर घुसाये गये हैं उनको कम्पनी बाहर निकाले। 12 मार्च 2010 को दोपहर तक एडीएम सिटी, श्रम विभाग के अधिकारीगण व पुलिस प्रशासन की उपस्थिति में अन्दर से 12 बाउंसरों (गुण्डों) को बाहर निकाला गया। कर्नल खटाना के मुताबिक़ ये उनके व्यक्तिगत बाउंसर हैं। अन्य लोगों को मैनेजमेण्ट ने दायें-बायें से बाहर निकाल दिया। प्रशासन के दबाव में प्रबन्धन ने 12 मज़दूरों के सस्पेंशन को वापस ले लिया। एक बार फिर मैनेजमेण्ट की चाल खुद उसी के लिए घातक साबित हुई। उसकी असलियत सबके सामने आयी। 3 अप्रैल 2010 को प्रबन्धन व यूनियन के बीच श्रम कार्यालय में वार्ता हुई और मज़दूरों की कुछ माँगें मानी गयीं। जिनमें वेतन बढ़ोतरी 350 रुपये, ओवरटाइम का भुगतान डबल रेट से किये जाने की सहमति, दो जोड़ी वर्दी, एक जोड़ी जूता, साल में एक टूर तय किया गया। जिनमें एक जोड़ी वर्दी व टूर अभी तक नहीं दिया गया है। साथ में यूनियन ने मालिकान से लिखित में यह समझौता भी किया कि आगे प्रबन्धन बदले की भावना से किसी मज़दूर पर कार्रवाई नहीं करेगा। लेकिन प्रबन्धन ने मज़दूरों को बेवजह परेशान रखना जारी रखा। इसी क्रम में 1 नवम्बर 2010 को मालिक ने बिना कारण बताये 6 लोगों

(पेज 11 पर जारी)

एलाइड निप्पोन में सीटू की ग़द्दारी के कारण आन्दोलन दमन का शिकार और मज़दूर निराश

बिगुल संवाददाता

एलाइड निप्पोन अभी कुछ समय तक अख़बारों की सुर्ख़ियों में बना रहा था। ज्ञात हो कि साहिबाबाद की एलाइड निप्पोन फ़ैक्टरी में मज़दूरों ने अपने ऊपर प्रबन्धन के गुण्डों द्वारा फ़ायरिंग के जवाब में आत्मरक्षा में जो संघर्ष किया, उसमें प्रबन्धन का एक आदमी मारा गया। इसके बाद, मालिकों के इशारे पर गाज़ियाबाद प्रशासन ने मज़दूरों पर एकतरफ़ा कार्रवाई करते हुए दर्जनों मज़दूरों को गिरफ़्तार किया और यह रपट लिखे जाने तक मज़दूरों की धरपकड़ जारी थी। प्रबन्धन के लोगों पर गोली चलाने और मज़दूरों को उकसाने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की गयी। साफ़ था कि प्रशासन मालिकों की तरफ़ से कार्रवाई कर रहा था। ऐसे में सीटू ने इस संघर्ष में प्रवेश किया और मज़दूरों के संघर्ष को अन्दर से कमज़ोर और खोखला बना दिया। सीटू ने न तो गिरफ़्तार मज़दूरों को छुड़वाने के लिए कोई जुझारू संघर्ष किया और न ही प्रबन्धन पर कार्रवाई की माँग को लेकर कोई आक्रामक रुख़ अपनाया। उल्टे सीटू ने मज़दूरों के दिमाग़ में ही ग़लती होने की बात बिठाना शुरू कर दिया। दोगलेपन की हद तो तब हो गयी, जब सीटू ने सिर्फ़ अपने कुछ लोगों को छोड़ने की दरख़्वास्त ग़ाज़ियाबाद प्रशासन से की। बाक़ी मज़दूरों की उसे कोई फ़िक्र नहीं थी। मज़दूरों पर प्रशासन ने आतंक का राज क़ायम करने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी है। कारख़ाने के इर्द-गिर्द के इलाक़े को छावनी में तब्दील कर दिया गया है और कारख़ाने को इसके तहत खोल दिया गया है। गिरफ़्तार मज़दूरों की कोई सुनवाई नहीं है; सीटू अब दृश्यपटल से ग़ायब है (मज़दूरों के संघर्ष को तोड़ने और पस्त करने का उसका काम जो पूरा हो गया); बचे-खुचे मज़दूर निराशा और पस्तहिम्मती का शिकार हैं और शोषण की मशीनरी पुराने ढर्रे पर लौट रही है। मालिक सन्तुष्ट और निश्चिन्त है और प्रशासन उसकी सेवा में चाक-चौबन्द! सीटू मालिकों की चाकरी करने का अपना कर्तव्य पूरा कर आराम फ़रमा रही है!

अब तक मज़दूरों को मालिकान-पुलिस-प्रशासन-श्रम विभाग आदि से आश्वासन के सिवा कुछ नहीं मिला। कारख़ाने की यूनियन सीटू के बताये रास्ते से अभी तक कुछ हासिल नहीं कर पायी है। मज़दूर थक रहा है। कारख़ाने में कुछ मज़दूर काम पर भी लौटे हैं। क़रीब 150 मज़दूर हर शिफ़्ट में काम कर रहे हैं। ये सभी मज़दूर ठेके पर काम करते हैं। मालिक अपनी चाल चलते हुए नये मज़दूर ठेके पर भर्ती करवाकर उत्पादन का टारगेट पूरा कर रहा है। इसके अलावा स्थायी मज़दूरों में से कुछ मज़दूर भी काम पर जा रहे हैं जिनकी रिटायरमेण्ट नज़दीक है। थोड़े से और मज़दूर भी काम पर जा रहे हैं लेकिन कुल मिलाकर स्थायी मज़दूरों की एक छोटी-सी गिनती ही इस काम में लगी हुई है। श्रम विभाग ने 13 जनवरी की तारीख़ दी है वार्ता के लिए। लेकिन आज तक की वार्ता से क्या हासिल हुआ है, यह भी मज़दूरों को सोचना होगा और बिना संघर्ष किये कितना मिल जायेगा यह भी अन्दाज़ा लगाना होगा। यहाँ भी सीटू की वही पॉलिसी काम कर रही है: संघर्ष एक बार करने की बजाय लम्बा खींचकर टुकड़ों में हड़ताल करने का जुबानी जमाख़र्च करो, ज्ञापन और वार्ता के सहारे समस्याओं के समाधान का भ्रम मज़दूरों के दिमाग़ में बैठाओ और इस प्रक्रिया में मज़दूरों को थका दो और इस बात का हामी बना दो कि वे लड़ नहीं सकते और हारना ही उनकी नियति है! सीटू इस बात की हर सम्भावना को ख़त्म करने की हर सम्भव कोशिश करता है कि एक ही बार डटकर हड़ताल की जाये, उसमें स्थायी, कैजुअल और ठेका सभी मज़दूरों को साथ लिया जाये और घेरा डाल दिया जाये। सीटू का रास्ता मज़दूरों को थका रहा है। इस नये साल में वायदा किया गया था कि मज़दूरों को कारख़ाने में दोबारा काम करने के लिए कोई बदले की कार्रवाई नहीं की जायेगी लेकिन इसके उलट जेल में क़ैद मज़दूरों की संख्या 13 से भी बढ़ गयी है क्योंकि पुलिस अभी भी मज़दूरों को उठाना बन्द नहीं कर रही। थके-हारे मज़दूर बीच-बीच में गाँव की तरफ़ मुँह कर रहे हैं। पिछले साल की नवम्बर से मज़दूर अपनी माँगों को लेकर संघर्ष कर रहे हैं। सीटू अपना असली चरित्र दिखलाते हुए मज़दूरों के बीच बिगुल मज़दूर कार्यकर्ताओं के बारे में झूठा प्रचार भी कर रही है कि ये लोग मालिकों से मिल जाते हैं; कभी यह कहते हैं बिगुल मज़दूर दस्ता के लोग संघर्ष को बीच में छोड़कर चले जाते हैं; कभी यह कहते हैं कि ये कोई बड़ी फ़ेडरेशन से नहीं जुड़े, इनकी कोई रजिस्टर्ड यूनियन नहीं है। कई प्रकार के भ्रम वे मज़दूरों के बीच फैला रहे हैं। अभी तक दिल्ली से पंजाब तक तथा गोरखपुर के आन्दोलनों में बादाम मज़दूर यूनियन, कारख़ाना मज़दूर यूनियन और पूर्वांचल कारख़ाना मज़दूर यूनियन के समक्ष कोई फ़ेडरेशन व क़ानूनी रजिस्ट्रेशन न होना आड़े नहीं आया। बल्कि मज़दूरों की व्यापक एकता तथा उनके संघर्ष

(पेज 6 पर जारी)

माँगपत्रक शिक्षणमाला – 3

ठेका प्रथा के ख़ात्मे की माँग पूँजीवाद की एक आम प्रवृत्ति पर चोट करती है

माँगपत्रक आन्दोलन-2011 के द्वारा प्रस्तुत किये गये माँगपत्रक में तीसरी और चौथी माँग आज मज़दूर वर्ग के लिए भारी महत्त्व रखती है। यह माँग है ठेका प्रथा के ख़ात्मे की माँग और साथ ही पीस-रेट पर काम करने वाले और कैजुअल मज़दूरों से जुड़ी माँगें। इन माँगों का राजनीतिक महत्त्व और आधार समझना हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। ये माँगें उन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक माँगों में से हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था के कुछ सबसे अहम आम रुझानों पर चोट करती हैं।

माँगपत्रक-2011 की पहली दो माँगों – न्यूनतम मज़दूरी और काम के घण्टे कम करने – के बारे में विस्तार से जानने के लिए पढ़ें 'मज़दूर बिगुल' अंक 1 और 2 – *सम्पादक*

पूँजीवादी उत्पादन की ज़रूरत है ठेका प्रथा

हम पहले की किश्तों में देख चुके हैं कि पूँजीवादी उत्पादन की प्रकृति ही ऐसी है जिसमें सामानों का उत्पादन एकतरफ़ा तरीक़े से बढ़ता जाता है, लेकिन दूसरी तरफ़ आबादी का बड़ा हिस्सा इस पूँजीवादी उत्पादन के चलते ही और अधिक ग़रीब होता जाता है और इन सामानों को ख़रीदने की ताक़त खोता जाता है। नतीजतन, सामानों से बाज़ार तो पटता जाता है लेकिन ख़रीदारों की कमी हो जाती है। इसे ही अति-उत्पादन का संकट कहा जाता है। मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति पूँजीपति को बेचता है और उसका श्रम ही कच्चे माल को सामानों में ढालकर वस्तु रूप धारण कर लेता है। मज़दूर की मेहनत ही बेकार कच्चे मालों को अपने कौशल और परिश्रम से जोड़कर उपयोगी और बिकाऊ बनाती है। लेकिन इसके बदले में मज़दूर को महज़ जीने की ख़ुराक मिलती है, जबकि दूसरी ओर उसकी मेहनत के उत्पादों को बेचकर पूँजीपति की पूँजी फूलती जाती है। लेकिन समाज का अस्सी प्रतिशत हिस्सा आम मेहनतकश आबादी से बनता है। और पूँजीवादी उत्पादन से लेकर वितरण की पूरी प्रक्रिया इस समूची मेहनतकश आबादी को लगातार दरिद्र बनाती जाती है। अगर अस्सी फ़ीसदी जनता ही भयंकर ग़रीबी और दरिद्रता की स्थिति में रहेगी तो ज़ाहिर है कि उपभोग घटेगा और नतीजतन अति-उत्पादन का संकट होगा। यह संकट आने पर पूँजीपति की पूँजी का बड़ा हिस्सा माल में फँसकर रह जाता है, जो बिकता नहीं है। ऐसे में, पूँजीपति उत्पादन में कटौती करता है, मुनाफ़े की गिरती दर को क़ायम रखने के लिए लागत में हर सम्भव कटौती करता है और छँटनी-तालाबन्दी का सहारा लेता है। लागत को कम करने के लिए जहाँ पूँजीपति और अधिक उन्नत मशीनों और तकनोलॉजी का सहारा लेता है, वहीं वह मज़दूरों के काम करने के घण्टों को बढ़ा देता है। उन्नत मशीनें और तकनोलॉजी मज़दूरों को काम से बाहर करने की प्रक्रिया को और तेज़ कर देती हैं। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान मज़दूरों की एक भारी आबादी पैदा होती है जो या तो बेरोज़गारों की विशाल रिज़र्व आर्मी का निर्माण करती है, या फिर अनौपचारिक और अनियमित मज़दूर वर्ग में शामिल होती है। यही वह आबादी है जो ठेके पर, पीस-रेट पर और कैजुअल मज़दूर के रूप में काम करती है। वास्तव में, ठेका प्रथा और पीस रेट पर होने वाला काम और साथ ही कैजुअलाइज़ेशन की पूरी प्रक्रिया मज़दूरी को घटाने का काम करते हैं। लागत घटाने के लिए पूँजीपति द्वारा उठाये गये क़दमों में से एक यह भी है कि स्थायी मज़दूरों की संख्या को लगातार कम किया जाये और अस्थायी और ठेके पर काम करने वाले मज़दूरों को बढ़ाया जाये। यही कारण है कि 1992 से 2002 के पूरे दशक के दौरान जो कि तमाम मन्दियों से भरा रहा, भारत में मैन्युफ़ैक्चरिंग सेक्टर में ठेका मज़दूरों का हिस्सा क़रीब 12 प्रतिशत से बढ़कर 30 प्रतिशत के क़रीब जा पहुँचा। अब तक यह हिस्सा अगर उसी रफ़्तार से बढ़ा हो तो क़रीब 50 फ़ीसदी तक पहुँच चुका होगा। याद रहे कि हम सिर्फ़ मैन्युफ़ैक्चरिंग सेक्टर की बात कर रहे हैं और वह भी सरकारी आँकड़ों की। अगर सभी सेक्टरों को मिला दिया जाये तो स्थायी रोज़गार प्राप्त कामगारों की आबादी कामगारों की कुल आबादी का महज़ 7 प्रतिशत है।

पूँजीवादी व्यवस्था की यह आम प्रकृति होती है कि वह मज़दूर वर्ग को अधिक से अधिक अरक्षित और असुरक्षित स्थिति में ले जाती है। पूँजीपति वर्ग को ऐसा मज़दूर चाहिए जिसकी मोलभाव करने और शर्तें रखने की ताक़त नगण्य हो। ऐसा मज़दूर वही हो सकता है जिसके पास कोई स्थायी रोज़गार न हो। ऐसा मज़दूर जिसके सिर पर नौकरी खो देने की तलवार हमेशा लटकती रहती हो। जिसके आवास से लेकर चिकित्सा तक की ज़रूरतों का कोई ठिकाना न हो। ऐसा मज़दूर वही हो सकता है जिसके पास रोज़गार का कोई स्थायी क़रार न हो। मार्क्स ने पूँजीवादी व्यवस्था के तार-तार को खोल देने वाली अपनी महान रचना 'पूँजी' में बताया है कि पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर बेरोज़गारी का होना कोई विचलन नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था का नियम है। यह बेरोज़गार आबादी वास्तव में एक सापेक्षिक 'अतिरिक्त' आबादी होती है जिसका पूँजीवादी अति-उत्पादन के संकट के कारण पूँजीवादी समाज में कोई इस्तेमाल नहीं रह जाता है (वास्तव में यह अति-उत्पादन कोई अति-उत्पादन नहीं होता, बल्कि मालों का वह विशालकाय जखीरा होता है जिसे मुनाफ़े वाली दर पर बेचा नहीं जा सकता। यदि व्यवस्था का लक्ष्य समूचे समाज के जीवन को सुन्दर बनाना हो, तो उत्पादन की कोई भी मात्रा "अति" नहीं होगी)। मार्क्स ने हमें सिखाया कि यह सापेक्षिक 'अतिरिक्त' आबादी चार क़िस्मों में रहती है। उसमें एक हिस्सा वह भी है जिसे हम आज के ठेका मज़दूर और पीस-रेट मज़दूर के रूप में देखते हैं। देखिये मार्क्स ने क्या लिखा है : "सापेक्षिक अतिरिक्त जनसंख्या की तीसरी श्रेणी है ठहरावग्रस्त, जो सक्रिय श्रम सेना का हिस्सा है, लेकिन जिसके पास बेहद अनियमित रोज़गार होता है। यहाँ यह पूँजी को उपयोग करके फेंक देने लायक श्रम-शक्ति का एक असीमित भण्डार उपलब्ध कराती है। इसके जीवन की स्थितियाँ मज़दूर वर्ग के औसत सामान्य स्तर से नीचे चली जाती हैं; यही इसे पूँजीवादी शोषण की विशेष शाखाओं का एक व्यापक आधार बनाती है। इसकी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता है अधिकतम कार्यकाल और न्यूनतम मज़दूरी।" इसी प्रकार लेनिन ने भी अपनी रचना 'रूस में पूँजीवाद का विकास' में पूँजीवादी उत्पादन में ठेका प्रथा के बारे में स्पष्ट शब्दों में लिखा है। लेनिन लिखते हैं : "आइये सबसे पहले घरेलू उद्योग में पूँजीपति और मज़दूर के बीच बिचौलियों की विशाल मात्रा पर ग़ौर किया जाये। बड़ा उद्यमी स्वयं सैकड़ों और हज़ारों मज़दूरों को सामग्री नहीं बाँट सकता है, जो कई बार कई गाँवों में बिखरे होते हैं; यहाँ जिस चीज़ की ज़रूरत होती है वह है बिचौलिये (कुछ मामलों में बिचौलियों का एक पूरा पदानुक्रम) का प्रकट होना जो सामग्री को थोक में लेता है और छोटी-छोटी मात्राओं में वितरित करता है। हम एक नियमित स्वेटिंग सिस्टम पाते हैं, भयंकरतम शोषण का एक तन्त्र : "सबकॉण्ट्रैक्टर" (या वर्करूम ओनर, या लेस उद्योग में ट्रेड्सवुमन, आदि, आदि) जो मज़दूर के क़रीब होता है, जानता है कि उसके दुख के एक-एक मामले का फ़ायदा कैसे उठाना है और शोषण के ऐसे-ऐसे तरीक़े निकालता है, जिनकी कल्पना भी कर पाना बड़ी इकाइयों में सम्भव नहीं होगा..."। ऐसे उद्धरणों का ढेर लगाया जा सकता है जिसमें मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने पूँजीवादी उत्पादन की एक ख़ासियत के तौर पर ठेका प्रथा के महत्त्व को बतलाया है।

ठेका प्रथा मुख्य तौर पर चार कामों को अंजाम देती है। पहला, मज़दूरी को नीचे करना और पूँजीपति की लागत को घटाकर मुनाफ़े को बढ़ाने में सहायता करना। दूसरा, मज़दूर को बेहद असुरक्षित स्थिति में पहुँचा देना, जिससे कि उससे गुलामों की तरह काम लिया जा सके। तीसरा, मज़दूरों को संगठित होने से रोकने में सहायता करना। और चौथा, मज़दूरों में सर्वहारा चेतना को कुन्द करना। ये चारों चीज़ें मज़दूरों के समक्ष पूँजीपति को और अधिक मज़बूत बनाती हैं। इसलिए हम कहते हैं कि ठेका प्रथा के उन्मूलन की माँग एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक माँग है और यह पूँजीवादी व्यवस्था की एक आम प्रवृत्ति पर चोट करती है।

भारत में ठेका मज़दूरी

भारत में ठेका मज़दूरी का इतिहास पुराना है। जब देश ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का ग़ुलाम था, ठेका प्रथा की कहानी तभी से शुरू हो गयी थी। जब ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारत में कुछ औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना की और आधुनिक यान्त्रिक औद्योगिक उत्पादन की शुरुआत की, तो उन्हें श्रम की आवश्यकता पड़ी। पूरे ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में श्रम की आपूर्ति एक समस्या बनी रही। जब पहली बार उन्हें इस समस्या का सामना करना पड़ा तो उन्होंने बिचौलियों, जिन्हें वे जॉबर कहते थे, के ज़रिये मज़दूरों की भर्ती शुरू की। लेकिन जल्द ही इस जॉबर तन्त्र ने ऐसे-ऐसे अमानवीय रूप अख़्तियार किये कि इस पूरे तन्त्र की चारों तरफ़ भारी आलोचना शुरू हो गयी। नतीजतन, ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने श्रम आयोगों की स्थापना की परम्परा शुरू की। पहले रॉयल कमीशन ऑन लेबर ने, जिसे व्हिटली कमीशन के नाम से भी जाना जाता है, सिर्फ़ इतना कहा कि जॉबर की भूमिका को कम किया जाये। 1946 में भी एक लेबर कमीशन बना जिसे रेगे कमिटी भी कहा जाता है। इस कमीशन ने कहा कि जहाँ सम्भव हो, वहाँ ठेका प्रथा को समाप्त किया जाये। तब से ही, आज़ादी के बाद भी सभी कमीशनों ने यह जुमला अपना लिया : "जहाँ सम्भव हो"। इस वाक्यांश के ज़रिये वास्तव में सारी सरकारों ने ठेका व्यवस्था को बढ़ाने का ही काम किया है। 1969 में आज़ादी के बाद पहला श्रम आयोग बना और उसने भी यही कहा कि जहाँ सम्भव हो वहाँ ठेका प्रथा का ख़ात्मा किया जाये। इसके बाद ही 1970 में भारत सरकार ने ठेका मज़दूरी (उन्मूलन व विनियमन) अधिनियम, 1970 का निर्माण किया। वास्तव में इस क़ानून को जल्द बनाने का कारण यह था कि देश के तमाम हिस्सों में ठेका मज़दूरों ने 1960 के दशक में काम करने की स्थितियों और न्यूनतम मज़दूरी के लिए जुझारू लड़ाइयाँ लड़ी थीं। इस क़ानून को 1971 में थोड़ा संशोधित किया गया। इस क़ानून के ज़रिये भारत सरकार ने यह वायदा किया कि एक क्रमिक प्रक्रिया में ठेका मज़दूरी को समाप्त किया जायेगा। लेकिन पिछले चार दशकों में ठेका मज़दूरी कहीं भी समाप्त होने की बजाय लगातार बढ़ी ही है।

ठेका मज़दूरी (उन्मूलन व विनियमन) अधिनियम की दुख भरी कहानी!

ठेका मज़दूरों के लिए इस क़ानून ने तमाम सुविधाओं और सुरक्षा का वायदा किया। लेकिन इनका वास्तविकता में कोई अर्थ नहीं है। इस क़ानून के सेक्शन 16 से लेकर 19 तक में इस बात का प्रावधान किया गया है कि काम करने की जगह पर ठेका मज़दूरों के लिए कैण्टीन, रेस्ट रूम और फ़र्स्ट एड, आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। सेक्शन 21 के तहत यह क़ानून समय पर ठेकेदार द्वारा मज़दूरी दिये जाने का प्रावधान करता है और सेक्शन 21(4) के तहत यह भी कहा गया है कि अगर ठेकेदार समय पर उचित मज़दूरी का भुगतान नहीं करता है तो इसका भुगतान प्रधान नियोक्ता को करना होगा। सेक्शन 12 स्पष्ट तौर पर कहता है कोई भी ठेकेदार बिना लाइसेंस के ठेके पर मज़दूरों को नहीं रख सकता है। इसके अतिरिक्त, ठेका मज़दूरों को इस क़ानून के तहत कर्मचारी राज्य बीमा (ईएसआई), भविष्य निधि (पीएफ़), और न्यूनतम मज़दूरी प्राप्त करने की सुविधाएँ मिली हुई हैं। लेकिन यह सारी दुनिया जानती है कि इन सभी प्रावधानों का पूँजीपति नंगे तौर पर पूरे देश में उल्लंघन करते हैं। कहीं भी यह क़ानून लागू नहीं किया जाता है।

सबसे पहले तो यह क़ानून ठेका मज़दूरी की समाप्ति के लिए बना है। लेकिन सरकार अपने ही विभागों में धड़ल्ले से ठेकाकरण कर रही है और स्थायी पदों को धीरे-धीरे समाप्त कर रही है। स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति और गोल्डेन हैण्डशेक जैसी साज़िशों के ज़रिये स्थायी मज़दूरों को काम से बाहर कर उनकी जगह पर ठेका मज़दूरों को रखा जा रहा है। नये-नये सरकारी उपक्रमों, जैसे कि दिल्ली मेट्रो कारपोरेशन में 80 फ़ीसदी काम ठेके पर ही हो रहा है। जब सरकार स्वयं अन्धेरगर्दी करते हुए ठेकाकरण कर रही है तो फिर निजी क्षेत्र में रोज़गार की तो बात ही क्या की जाये। निजी क्षेत्र में मज़दूरी करने वाले हर दस व्यक्ति में नौ ठेके पर हैं। नतीजा यह है कि आज पूरे देश की कुल मज़दूर आबादी का 93 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र में काम कर रहा है।

ज़ाहिर है कि इस क़ानून का मज़दूरों के लिए वास्तविकता और व्यवहार में कोई अर्थ नहीं है। सीटू, एटक, आदि जैसी संशोधनवादी और बी.एम.एस. और इण्टक जैसी पूँजीवादी पार्टियों की यूनियनों ने अब इस मुद्दे का अपने संघर्ष के एजेण्डे में रखना भी छोड़ दिया है। बताने की ज़रूरत नहीं है कि ये यूनियनें मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी कर चुकी हैं और वास्तव में पूँजीपतियों की ही सेवा करने में लगी हुई हैं, यह बात अलग है कि यह सेवा पीछे के चोर दरवाज़े के रास्ते की जा रही है। इन यूनियनों से यह उम्मीद करना अब बेकार है कि वे इस क़ानून को लागू करवाने के लिए सरकार को मजबूर करेंगी। इस क़ानून को लागू करवाने के लिए मज़दूरों को अपना एकजुट माँगपत्रक बनाकर संगठित होना होगा और इस माँगपत्रक को लेकर एक देशव्यापी आन्दोलन खड़ा करना होगा। यही माँगपत्रक आन्दोलन-2011 का मक़सद है।

माँगपत्रक आन्दोलन-2011 ठेका प्रथा के उन्मूलन की माँग करता है और मज़दूरों को संगठित होने का आह्वान करता है!

माँगपत्रक आन्दोलन-2011 द्वारा प्रस्तुत माँगपत्रक में कहा गया है कि ठेका मज़दूरी के सन्दर्भ में हमारी दो माँगें हैं। एक दूरगामी माँग है तो दूसरी तात्कालिक माँगों का एक समुच्चय।

(पेज 10 पर जारी)

झिलमिल और बादली औद्योगिक क्षेत्र में माँगपत्रक आन्दोलन का सघन प्रचार अभियान

बिगुल संवाददाता

दिसम्बर के पहले सप्ताह में राजधानी दिल्ली के झिलमिल औद्योगिक क्षेत्र और इससे लगी मज़दूर बस्तियों की दीवारों पर मज़दूरों के एक नये आन्दोलन के नारों ने फ़ैक्ट्री आते-जाते मज़दूरों का ध्यान खींचना शुरू कर दिया। 'अब चलो नयी शुरुआत करो, मज़दूर मुक्ति की बात करो', 'मज़दूर साथियो जागो, अपना हक़ लड़कर माँगो', 'मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन का नारा – लड़कर लेंगे अपना हक़ सारा' जैसे नारे दीवारों पर लिखे थे और कारख़ानों तथा बस्तियों की दीवारों पर चिपके हाथ से लिखे पोस्टर मज़दूरों की बुनियादी माँगों को उठाने के साथ ही संघर्ष के लिए एकजुट होने का आह्वान कर रहे थे।

फिर 7 दिसम्बर की शाम को झिलमिल के कारख़ानों से बस्ती की ओर जाने वाले रास्ते पर ज़ोरदार नारों की आवाज़ ने काम से लौटते मज़दूरों को रुक जाने पर विवश कर दिया। देखते ही देखते माँगपत्रक आन्दोलन की अभियान टोली के चारों ओर मज़दूरों का घेरा बन गया और फिर ढपली की थाप के साथ एक जोशीले क्रान्तिकारी गीत के बाद एक कार्यकर्ता ने मज़दूरों के हालात और माँगपत्रक आन्दोलन के बारे में बताना शुरू कर दिया। मज़दूरों ने उत्साह के साथ प्रचार टोली की बातों को सुना, आन्दोलन के पर्चे लिये, कई मज़दूरों ने माँगपत्रक पुस्तिका खरीदीं और इसके बारे में और जानने तथा इससे जुड़ने के लिए अपने नाम-पते-फ़ोन नम्बर नोट कराये। तीन दिनों तक झिलमिल औद्योगिक इलाक़े में दर्जनों जगहों पर यह दृश्य दिखा।

'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंकों में प्रकाशित रिपोर्टों से पाठक जानते होंगे कि देश के विभिन्न हिस्सों में मज़दूर कार्यकर्ताओं, विभिन्न मज़दूर यूनियनों, और क्रान्तिकारी जनसंगठनों द्वारा माँगपत्रक आन्दोलन–2011 की शुरुआत की गयी है। यह एक महत्त्वपूर्ण आन्दोलन है जिसमें भारत के मज़दूर वर्ग का एक व्यापक माँगपत्रक तैयार करते हुए भारत की सरकार से यह माँग की गयी है कि उसने मज़दूर वर्ग से जो-जो वायदे किये हैं उन्हें पूरा करे, श्रम क़ानूनों को लागू करे, नये श्रम क़ानून बनाये और पुराने पड़ चुके श्रम क़ानूनों को रद्द करे। इस माँगपत्रक में 26 श्रेणी की माँगें हैं जो आज के भारत के मज़दूर वर्ग की लगभग सभी प्रमुख आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और साथ ही उसकी राजनीतिक माँगों को भी अभिव्यक्त करती हैं। इन सभी माँगों के लिए मज़दूर वर्ग में व्यापक जनसमर्थन जुटाने के लिए दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, महाराष्ट्र और छत्तीसगढ़ के विभिन्न हिस्सों में इस माँगपत्रक को लेकर कार्यकर्ता कारख़ाना इलाक़ों और मज़दूरों के रिहायशी इलाक़ों में जा रहे हैं और उन्हें इसके बारे में समझा और बता रहे हैं। साथ ही, इस माँगपत्रक के समर्थन में मज़दूरों के हस्ताक्षर जुटाये जा रहे हैं। मज़दूरों को गोलबन्द-संगठित करने के लिए उनके रिहायशी इलाक़ों में उनकी गोलबन्दी कमेटियाँ बनायी जा रही हैं।

इसी के तहत झिलमिल इलाक़े में 4 से 9 दिसम्बर तक और बादली औद्योगिक क्षेत्र तथा आसपास की मज़दूर बस्तियों में 20 से 24 दिसम्बर तक सघन प्रचार अभियान चलाया गया। पहले तीन दिनों तक अभियान टोली ने झिलमिल औद्योगिक क्षेत्र और उससे लगी तीन बस्तियों – राजीव कैम्प, सोनिया कैम्प तथा अम्बेडकर कैम्प में दीवारों पर आन्दोलन के नारे और इसकी प्रमुख माँगों को लिखा और बड़े पैमाने पर पोस्टर बनाकर चिपकाये। दीवारों के अलावा रास्तों के किनारे के पेड़ों और खम्भों पर भी गत्ते बाँधकर उन पर पोस्टर लगाये गये। फिर तीन दिनों तक इलाक़े में जगह-जगह नुक्कड़ सभाओं का सिलसिला शुरू किया गया जिनमें वक्ताओं ने मज़दूरों को बताया कि आज देश के 93 प्रतिशत से भी अधिक मज़दूरों को बुनियादी अधिकार भी हासिल नहीं हैं। 10-10, 12-12 घण्टे कारख़ानों में खटने के बाद भी उन्हें न्यूनतम मज़दूरी भी नहीं मिलती जोकि ख़ुद ही बेहद कम है। माँगपत्रक आन्दोलन काम के घण्टे आठ करने, न्यूनतम मज़दूरी कम से कम 11,000 रुपये करने, मज़दूरी सहित साप्ताहिक छुट्टी देने, जबरन ओवरटाइम बन्द करने और ओवरटाइम का डबल रेट से भुगतान करने, ठेका प्रथा ख़त्म करने और इसके ख़त्म होने तक ठेका मज़दूरों को सभी जायज़ सुविधाएँ मुहैया कराने और सभी श्रम क़ानूनों को सख़्ती से लागू कराने की बात उठा रहा है। स्त्री मज़दूरों को समान काम की समान मज़दूरी, उनके लिए कारख़ानों में अलग शौचालय, पालनाघर और मातृत्व अवकाश देने की भी इसमें माँग की गयी है। प्रवासी मज़दूरों, पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों, लेबर चौक पर दिहाड़ी करने वाले मज़दूरों सहित हर प्रकार के असंगठित मज़दूरों की माँगों को इसमें उठाया गया है। काम की जगहों पर सुरक्षा और दुर्घटना के उचित मुआवज़े की माँग को भी प्रमुखता के साथ उठाया गया है।

बादली औद्योगिक क्षेत्र और इसके आसपास राजा विहार, सूरज पार्क, यादवनगर में मज़दूरों के रिहायशी इलाक़ों में 20 से 24 के बीच प्रचार अभियान चलाया गया। यहाँ भी पहले व्यापक दीवार लेखन तथा पोस्टर लगाने के बाद मज़दूर बस्तियों में सुबह-सुबह गीत गाते हुए प्रभातफेरी निकाली गयी, और फिर सुबह-सुबह काम पर जाते हुए मज़दूरों की विशाल आबादी के बीच नारे लगाते हुए हज़ारों पर्चे बाँटे गये। इसके बाद साइकिलों पर नारों की तख्तियाँ लगाये हुए कार्यकर्ताओं की टोली ने पूरे औद्योगिक इलाक़े में घूमते हुए जगह-जगह सभाएँ करके माँगपत्रक आन्दोलन के बारे में मज़दूरों को बताया। शाम से लेकर रात तक रिहायशी इलाक़ों में प्रचार अभियान चलाया गया। सभाओं में वक्ताओं ने इस बात पर ज़ोर दिया कि माँगपत्रक–2011 मज़दूर वर्ग की सभी क़ानूनी और संवैधानिक माँगों को देश की पूँजीवादी सरकार के सामने रखता है। उन्होंने यह भी कहा कि मज़दूर वर्ग की मुक्ति की लड़ाई इस माँगपत्रक आन्दोलन से पूरी नहीं हो जाती यह तो एक शुरुआत है। यह आन्दोलन पूरी व्यवस्था और सत्ता के चरित्र को मज़दूर वर्ग के समक्ष और अधिक साफ़ करेगा। साथ ही, यह आन्दोलन मज़दूर वर्ग की कई जायज़ माँगों को जीतने और फ़ौरी राहत हासिल करने का काम भी कर सकता है।

अलग-अलग इलाक़ों में चलाये जाने वाले इन सघन प्रचार अभियानों के साथ मज़दूर इलाक़ों में घर-घर जाकर और कारख़ाना इलाक़ों में माँगपत्रक पर मज़दूरों के हस्ताक्षर जुटाने का काम भी लगातार चलाया जा रहा है। ●

मज़दूर वर्ग के लिए आशाओं के उद्गम और चुनौतियों के स्रोत

(पेज 13 से आगे)

तरह व्यवहार कर रहा है। अगर कई मौक़ों पर वह साम्राज्यवादी महाप्रभुओं के सामने झुकता है तो कई मौक़ों पर वह अपने विशाल बाज़ार और उपभोक्ता आबादी के बूते पर उन्हें भी मोलभाव करके झुकाता है। भारतीय सामाजिक संरचना में पूँजीवादी उत्पादन पद्धति प्रभावी उत्पादन पद्धति बन चुकी है। यह देखने और समझने के लिए आज अर्थशास्त्र के गहन ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। लेकिन भारत, और वस्तुतः 'तीसरी दुनिया' के देशों में मौजूद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नेतृत्व अभी भी अनुसरणवाद, कठमुल्लावाद और अतीतग्रस्तता के कारण चीनी पार्टी द्वारा 1963 में दी गयी नवजनवादी क्रान्ति की आम कार्यदिशा से आगे नहीं सोच पा रहा है। यह वह गाँठ है जिसे खोले बिना भारत समेत 'तीसरी दुनिया' के उन तमाम देशों में कम्युनिस्ट आन्दोलन आगे नहीं बढ़ सकता है जहाँ 21वीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियाँ सम्भावित हैं।

नवजनवादी क्रान्ति की इस गाँठ से जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी मुक्त हैं और मज़दूर वर्ग में काम को सबसे अहम मानते हैं, वे भी तमाम विजातीय निम्न बुर्जुआ विचारों के शिकार हैं। उनके अन्दर ट्रेड यूनियनवाद और अर्थवाद के विचलन गहराई तक जड़ जमाये हुए हैं। यही कारण है कि आज वे मज़दूर वर्ग में काम करते हुए भी महज़ कारख़ाना-आधारित संघर्षों को ही वर्ग संघर्ष का एकमात्र सम्भव रूप मानते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि अनौपचारिकीकरण के इस दौर में जब मज़दूर वर्ग को काम करने की जगह के लिहाज़ से बिखराया जा रहा है, तो कारख़ाना-आधारित संघर्षों का भी इलाक़ाई आधार और सेक्टोरल आधार पर संगठित मज़दूर यूनियनों के बिना टिक पाना और जीत पाना मुश्किल हो गया है। लेकिन वे मज़दूर वर्ग के संघर्ष के पुराने रूपों पर पुनर्विचार करने, उनमें परिवर्तन करने, उन्हें विकसित करने और नये रूपों को ईजाद करने की कोई ज़रूरत नहीं महसूस करते। वे बस कारख़ाने के भीतर की आर्थिक लड़ाइयों तक ही सीमित रहते हैं और इन आर्थिक लड़ाइयों को भी अर्थवादी तरीक़े से लड़ने के हामी होते हैं। साथ ही, अनौपचारिक क्षेत्रों में काम करने वाली बिखरी हुई मज़दूर आबादी के प्रति उनका रवैया पक्षपातपूर्ण होता है। इनका मानना है कि बड़े कारख़ानों में काम करने वाला स्थायी मज़दूर सर्वहारा चेतना से अधिक सम्पन्न होता है और बिखरी हुई अनौपचारिक मज़दूर आबादी शोषित और उत्पीड़ित तो ज़्यादा होती है, लेकिन उसमें से हिरावलों का तैयार होना अधिक मुश्किल भरा है और इसमें बहुत झंझट है। उन्हें लगता है कि इन मज़दूरों के नागरिक अधिकारों, जैसे शिक्षा, चिकित्सा, आवास और साफ़-सफ़ाई आदि के अधिकारों के लिए लड़ना एन.जी.ओ. का काम है, क्रान्तिकारी सर्वहारा संगठनों का नहीं। यह तो एक त्रासद बात है कि आज उन मसलों को एन.जी.ओ. उठा रहे हैं जिन्हें उठाकर सर्वहारा संगठन मज़दूर वर्ग का ज़बर्दस्त राजनीतिकीकरण और क्रान्तिकारीकरण कर सकते हैं। वे उन्हें सुधारवादी तरीक़े से उठाकर क्रान्तिकारी सम्भावनाओं को चोट पहुँचा रहे हैं। मज़दूर वर्ग के नागरिक पहचान पर दावे को एन.जी.ओ. का मुद्दा मानने की समझदारी पर ज़्यादा कुछ कहने की ज़रूरत नहीं है।

इसके अतिरिक्त, आज मज़दूर आन्दोलन के भीतर जो विजातीय प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद और स्वतःस्फूर्ततावाद की प्रवृत्ति। इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति भारत में "स्वतन्त्र" ट्रेड यूनियन (यानी, पार्टी-विरोधी ट्रेड यूनियन), मज़दूर वर्ग के जनराजनीतिक केन्द्र की सोच, और अभिव्यक्त रूप से पार्टी का विरोध करने वाली सोच के रूप में मौजूद है। कुल मिलाकर, यह खुले तौर पर या प्रच्छन्न तौर पर सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी के लेनिननवादी सिद्धान्त का विरोध करती है। यह प्रवृत्ति अलग से एक लम्बी आलोचना की माँग करती है जिस पर हम आगे 'मज़दूर बिगुल' में अवश्य लिखेंगे। आज इस प्रवृत्ति का हर जगह विरोध करने की ज़रूरत है जो मार्क्स की इस उक्ति "मज़दूर वर्ग की मुक्ति मज़दूर वर्ग के द्वारा" का अर्थ यह समझते हैं कि यह मुक्ति बिना किसी हिरावल के आ सकती है। वे लेनिन की इस शिक्षा को भूल जाते हैं कि मज़दूर आन्दोलन स्वतःस्फूर्त ढंग से सिर्फ़ आर्थिक तर्क तक ही सोच पाता है। उसमें समाजवाद की विचारधारा को बाहर से डालना पड़ता है और इसके ज़रिये ही मज़दूर वर्ग अपनी मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ सकता है। मार्क्सवाद की यह शिक्षा है कि जब तक वर्ग समाज मौजूद है तब तक शासक वर्ग अपने हिरावल के बिना शासन नहीं कर सकता और शासित वर्ग अपने हिरावल के बिना मुक्ति-युद्ध नहीं लड़ सकता। अराजकतावाद की इस प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ लड़ना आज मज़दूर वर्ग के लिए एक अस्तित्व का प्रश्न है। इन प्रवृत्तियों को मज़दूर आन्दोलन में पराजित करके और इनका ख़ात्मा करके ही मज़दूर आन्दोलन आज के गतिरोध को तोड़ सकता है।

क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन जब तक इन प्रवृत्तियों से छुटकारा नहीं पाता है, तब तक मज़दूर आन्दोलन के मौजूद गतिरोध को महज़ स्वतःस्फूर्त संघर्षों के बूते पर तोड़ा नहीं जा सकता है। यहाँ पर हमने सीटू, एटक और एक्टू जैसी संशोधनवादी ट्रेड यूनियनवाद और अर्थवाद की चुनौती की विस्तार से चर्चा नहीं की है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि मज़दूर वर्ग के इन ग़द्दारों को जहाँ कहीं भी और जैसे भी सम्भव हो नंगा किया जाना चाहिए और कहीं भी मज़दूरों को अपने संघर्ष में इन्हें घुसने नहीं देना चाहिए। जैसे ही यह किसी मज़दूर संघर्ष में घुसते हैं वैसे ही इसे भीतर से दीमक की तरह चाटना शुरू कर देते हैं। मज़दूरों के क़ानूनी विभ्रम का फ़ायदा उठाकर यह अपने विशाल और पंजीकृत यूनियन होने का लालच दिखलाते हैं और पूरे आन्दोलन को अन्धी गली में ले जाकर छोड़ देते हैं। इनके बारे में आज मज़दूरों का विशाल हिस्सा भी अच्छी तरह जानता है। हमारी भावी चुनौतियों में इन संशोधनवादी ग़द्दारों को मज़दूर वर्ग के सामने बेनक़ाब करना भी शामिल होना चाहिए।

अन्त में...

बीता दशक पूँजीवाद के और अधिक कमज़ोर और जर्जर होने का साक्षी बना। पूँजीवाद का ढाँचागत संकट उसे अजगर के समान अपने पाश में जकड़ चुका है। यह पूँजीवाद का अन्तकारी संकट है और पूँजीवाद के ख़ात्मे के साथ ही इससे मुक्ति सम्भव है। पूरी दुनिया में पूँजीवाद से जनता का मोहभंग हो रहा है। लोग विकल्प की तलाश में छटपटा रहे हैं। यह छटपटाहट स्वतःस्फूर्त तरीक़े से लोगों के सड़कों पर उतरने के रूप में साफ़ तौर पर देखी जा सकती है। दुनियाभर में समाजवाद का सपना तमाम पूँजीवादी घोषणाओं के बावजूद फ़ीनिक्स पक्षी की तरह राख से फिर से जन्म ले रहा है। एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के तुलनात्मक रूप से पिछड़े किन्तु पूँजीवादी देशों में भी मज़दूर स्वतःस्फूर्त तरीक़े पर सड़कों पर उतर रहे हैं और जब-तब उनका गुस्सा फूटकर लावे की तरह सड़कों पर बह रहा है। पूँजीवाद से बढ़ता मोहभंग और उसका असमाधेय संकट और सड़कों पर मौजूद सन्नाटे का टूटना बीते दशक की वे परिघटनाएँ थीं, जो उम्मीद पैदा करती हैं।

लेकिन इसके साथ ही तमाम चुनौतियाँ आज मज़दूर आन्दोलन के सामने खड़ी हैं। ये चुनौतियाँ हैं नवजनवादी क्रान्ति की गाँठ और "वामपन्थी" दुस्साहसवाद से मुक्ति पाने; अर्थवाद, ट्रेड यूनियन, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद से छुटकारा पाने; ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद और स्वतःस्फूर्ततावाद से पिण्ड छुड़ाने; और संशोधनवाद को बेनक़ाब करने और उसका सफाया करने की चुनौतियाँ। इन चुनौतियों का सामना करते हुए आज मज़दूर आन्दोलन और उसके क्रान्तिकारी नेतृत्व को नये सिरे से मज़दूर वर्ग के हिरावल का निर्माण करना होगा; भारतीय सामाजिक संरचना के सही विश्लेषण के आधार पर नयी समाजवादी क्रान्ति की सोच को आगे बढ़ाना होगा; आज के युग में सही मार्क्सवाद को समझते और विकसित करते हुए सही विचारधारात्मक अवस्थिति अपनानी होगी। आज फिर से नयी शुरुआत करने का वक़्त है। पूँजीवाद पहले से कहीं अधिक कमज़ोर और जर्जर हो चुका है और अपने आन्तरिक अन्तरविरोधों से ही उसकी दीवारें दरक रही हैं। लेकिन यह अपने आप नहीं गिरने वाला। यही समय है कि हम क्रान्ति के विज्ञान की सही समझ विकसित करते हुए मज़दूर वर्ग की क्रान्ति के लिए तीन ज़रूरी चीज़ों को नये सिरे से विकसित करें : सही क्रान्तिकारी विचारधारा, मज़बूत क्रान्तिकारी आन्दोलन और एक अग्निदीक्षित क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी।

●

न्यूनतम मज़दूरी और बुनियादी अधिकारों के लिए बंगलादेश के टेक्सटाइल मज़दूरों का आन्दोलन

ट्रेड यूनियनों की ग़द्दारी, मज़दूरों के हक़ की नहीं मालिकों के मुनाफ़े की चिन्ता

पिछले 12 दिसम्बर 2010 को बंगलादेश की राजधानी ढाका में सरकार द्वारा तय न्यूनतम मज़दूरी लागू न करने के ख़िलाफ़ आन्दोलनरत कपड़ा मज़दूरों पर बंगलादेशी पुलिस की गोलीबारी से चार मज़दूरों की मौत हो गयी और अनेक घायल हो गये। सरकार और पूँजीपतियों की तरफ़ से खुला हाथ मिलने के बाद पुलिस ने मज़दूरों और उनके परिवारों पर कहर बरपा करने में कोई नरमी नहीं दिखायी। न्यूनतम मज़दूरी और काम की बेहतर परिस्थितियों जैसी बुनियादी माँगों के लिए आन्दोलनरत मज़दूरों का बर्बर दमन करने के बाद उद्योगपतियों के प्रतिनिधियों ने सरकारी मन्त्री और कुछ ट्रेड यूनियनों के साथ बैठक करके भविष्य में उठ सकने वाले मज़दूर आन्दोलनों को कुचलने की रणनीति विकसित करने के बारे में विचार-विमर्श किया! वहीं सरकार ने एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग ज़ोन में मज़दूरों का दमन करने के लिए विशेष औद्योगिक बल के गठन का प्रस्ताव किया।

इस संकट की शुरुआत 2008 से हुई थी। पिछले 3 सालों से न्यूनतम मज़दूरी में कोई इज़ाफ़ा नहीं हुआ था जबकि खाने-पीने सहित सभी बुनियादी चीज़ों की क़ीमतों में दो से तीन गुने की वृद्धि हो गयी थी। लम्बे संघर्ष के बाद 2009 में सरकार ने न्यूनतम मज़दूरी 1662 टका (लगभग 1061.50 रुपये) से बढ़ाकर 3000 टका (लगभग 1915.70 रुपये) करने का फ़ैसला किया था जबकि मज़दूरों की माँग थी कि न्यूनतम मज़दूरी 5000 टका की जाये। जब सरकार के आदेश के बावजूद तय समयसीमा (जुलाई 2010) के बीत जाने पर भी मालिकों ने न्यूनतम मज़दूरी देना शुरू नहीं किया तो मज़दूरों को आन्दोलन का रास्ता अख़्तियार करना पड़ा। कई दिनों तक काम ठप्प रहा और अनेक विदेशी कम्पनियों के लिए कपड़ा बनाने वाली इकाइयाँ बन्द पड़ी रहीं। राजधानी ढाका के पास स्थित औद्योगिक ज़िले ग़ाज़ीपुर में मज़दूरों ने एक मुख्य राजमार्ग को जाम कर दिया और फ़ैक्ट्रियों के सामने प्रदर्शन किया। आन्दोलन का एक-एक दिन मालिकों पर भारी गुज़र रहा था। यूरोप और अमेरिका के देशों में त्योहारों और छुट्टियों का सीज़न आ रहा था और फ़ैक्ट्रियों में काम का अम्बार था। आख़िरकार बंगलादेश की पूँजीवादी सरकार से मालिकों का नुक़सान देखा न गया और उसने मालिकों पर दबाव बनाने के बजाय मज़दूरों के दमन का रास्ता अपनाया।

सस्ते श्रम के दोहन के लिए पूरी दुनिया की ख़ाक छानने वाले पूँजीपतियों के लिए बंगलोदश वैसी ही मनमुआफ़िक़ जगह है जैसे कि भारत और तीसरी दुनिया के अन्य देश। भारत के पूँजीपतियों की तरह ही बंगलादेश के पूँजीपति साम्राज्यवादी लुटेरों के जूनियर पार्टनर बनकर अपने देश की जनता की हाड़-तोड़ मेहनत के बूते अपनी और विदेशी लुटेरों की तिजोरियाँ भरते हैं। यह ज़रूर है कि यहाँ के पूँजीपति वर्ग की हैसियत भारत के पूँजीपति वर्ग जितनी नहीं है, जो एक पर्याप्त भारी-भरकम जूनियर पार्टनर है और अपने विशालकाय घरेलू बाज़ार के बूते पर साम्राज्यवादी देशों के तमाम शिविरों से कई बार अपनी शर्तों पर लेन-देन करता है। बंगलादेशी पूँजीपति वर्ग इसकी तुलना में काफ़ी निर्भर है और इसकी कई मामलों में भारतीय पूँजीपति वर्ग पर भी काफ़ी निर्भरता है।

लूट के इस खेल में बंगलादेश की सरकार को भी अच्छा-ख़ासा मुनाफ़ा होता है और यह विदेशी मुद्रा अर्जित करने का सबसे बड़ा स्रोत है, और इसीलिए यहाँ की सरकार का मुख्य काम यह देखना होता है कि लूट का यह निज़ाम बदस्तूर जारी रहे।

उदारीकरण-निजीकरण की पटरी पर बंगलादेश की अर्थव्यवस्था की गाड़ी तेज़ गति से दौड़ रही है। पिछले कई वर्षों से बंगलादेश अन्तरराष्ट्रीय पूँजीवादी तन्त्र की एक प्रयोगभूमि बना हुआ है। विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष जैसे साम्राज्यवादियों के संस्थानों की देखरेख में कई सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम बंगलादेश की सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं। ग्रामीण बैंक के मुहम्मद युनुस का माइक्रो फ़ाइनेंस (सूक्ष्म ऋण या बहुत छोटे क़र्ज़) का प्रयोग भी ऐसा ही एक कार्यक्रम है जिसके लिए श्रीमान युनुस को अर्थशास्त्र का नहीं बल्कि शान्ति का नोबेल पुरस्कार दिया गया था। (माइक्रो फ़ाइनेंस के बारे में एक विस्तृत लेख इसी अंक में अलग से दिया जा रहा है – सम्पादक)। भूमण्डलीकरण के दौर में पूरी दुनिया के पूँजीपति बंगलादेश जैसे देशों के सस्ते श्रम और उभरते बाज़ार पर गिद्ध दृष्टि लगाये हुए हैं। दुनिया की अनेक नामी-गिरामी कम्पनियों, जैसे कि वॉल-मार्ट, टॉमी हिलफ़िगर, लेवी स्ट्रॉस, मार्क एण्ड स्पेंसर के लिए कपड़े बंगलादेश की फ़ैक्ट्रियों में बनते हैं। यूँ तो ये कम्पनियाँ अपने-अपने देश के मीडिया में स्वयं को मानवाधिकारों के अलमबरदार के रूप में प्रचारित करती हैं लेकिन असलियत में इन फ़ैक्ट्रियों में काम करने वाले मज़दूरों की हालत बेहद दयनीय है। सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी अपने आप में इतनी कम है कि इससे मज़दूरों के परिवार का पेट नहीं पल सकता लेकिन मुनाफ़ाख़ोर मालिक मज़दूरों को उतना भी नहीं देना चाहते। कई फ़ैक्ट्रियों में तो काम के घण्टे इतने अधिक हैं कि मज़दूर अपने कमरों पर जाने के बजाय फ़ैक्ट्री में ही सोकर काम चलाते हैं। सुरक्षा और चिकित्सा व्यवस्था के अभाव के कारण जल्दी ही मज़दूर बीमार पड़ जाते हैं जिससे कई बार उनका काम छूट जाता है और फिर या तो वे बेरोज़गारों की विशाल फ़ौज में शामिल हो जाते हैं या पहले से भी कम मज़दूरी और ख़राब परिस्थितियों में काम पकड़ने को मजबूर हो जाते हैं। फ़ैक्ट्रियों में सुरक्षा व्यवस्था का आलम यह है कि राजधानी ढाका से 25 किलोमीटर दूर अशुलिया में एक 12 मंज़िला इमारत की दसवीं मंजिल पर आग लगने से 29 मज़दूरों की मौत हो गयी और 50 से अधिक गम्भीर रूप से ज़ख़्मी हो गये थे। इस इमारत में क़रीब दस हज़ार मज़दूर काम करते थे और यहाँ आग से सुरक्षा की कोई

अन्तरराष्ट्रीय

व्यवस्था नहीं थी।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि बंगलादेश के कुल निर्यात में वस्त्र उद्योग का हिस्सा 80 प्रतिशत है जो कि लगभग 12-15 बिलियन डॉलर के बराबर है। वर्ष 2010 की पहली तिमाही में इसमें 37 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गयी थी। यह सबसे अधिक लोगों को रोज़गार देने वाला औद्योगिक सेक्टर भी है जिसमें लगभग 30 लाख लोग कार्यरत हैं जिनमें अधिकतर महिलाएँ हैं। ज़ाहिर है कि इतना मुनाफ़ा कमाने वाले इस उद्योग का चलते रहना बंगलादेश की सरकार और वहाँ के पूँजीपति वर्ग के लिए कितना ज़रूरी है। इसीलिए वहाँ की सरकार ने पूँजीपतियों को तमाम श्रम क़ानूनों से छूट दे रखी है। बल्कि इससे भी आगे बढ़ते हुए भारत और चीन की तर्ज पर वहाँ भी एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग ज़ोन (ईपीज़ेड) बनाये गये हैं जिनमें स्थित कम्पनियों पर लगभग कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होते।

एक तरफ़ जहाँ बंगलादेशी मज़दूरों की हालत भारत के मज़दूरों की तरह ही ख़राब है, वहीं भारत की बड़ी और स्थापित ट्रेड यूनियनों की तरह ही बंगलादेश की बड़ी और स्थापित ट्रेड यूनियनों की ग़द्दारी भी जगज़ाहिर है। वास्तव में ये समझौतापरस्त ट्रेड यूनियनें फ़िलहाल मज़दूर आन्दोलन की सबसे बड़ी बाधा बनी हुई है। इनका मुख्य काम मज़दूरों के हितों के लिए संघर्ष करना नहीं बल्कि मालिकों के दलाल की भूमिका निभाते हुए मज़दूर आन्दोलन को विघटन और हताशा के गर्त में डुबाना है। इन यूनियनों की सारी सक्रियता मालिकों के पक्ष में समझौता कराने, कमीशनख़ोरी करने और मज़दूरों की जुझारू एकजुटता को तोड़ने में नज़र आती है। हाल ही में एक तरफ़ जहाँ मज़दूर सड़कों पर पुलिसिया उत्पीड़न के शिकार हो रहे थे, वहीं दूसरी तरफ़ कुछ ट्रेड यूनियनों का नेतृत्व श्रम मन्त्री मोन्नजुम सूफ़ियाँ और मालिकों के प्रतिनिधियों के साथ भविष्य में मज़दूर आन्दोलनों से निपटने की रणनीति और प्रणाली विकसित करने की योजना बनाने में व्यस्त था। जिसके नतीजे के तौर पर मन्त्री ने फ़ैक्ट्रियों में यूनियन-नियोक्ता-सरकार की संयुक्त समितियाँ बनाने का प्रस्ताव किया, वहीं दूसरी तरफ़ सरकार ने ईपीज़ेड में औद्योगिक पुलिस तैनात करने का प्रस्ताव किया। साफ़तौर पर देखा जा सकता है कि बंगलादेश की सरकार को मज़दूरों के बुनियादी अधिकारों की नहीं, बल्कि पूँजीपतियों के मुनाफ़े की अधिक चिन्ता है।

बंगलादेश का मज़दूर आन्दोलन विकल्पहीनता का शिकार है। ज़्यादातर मज़दूर वे हैं जो गाँवों की भयंकर ग़रीबी से परेशान होकर औद्योगिक क्षेत्रों में काम के लिए आते हैं। प्रवासी होने के कारण फ़ैक्ट्रियों में उनका भयंकर शोषण किया जाता है। उन्हें किसी प्रकार की सामाजिक या स्वास्थ्य सुरक्षा सरकार की ओर से नहीं मिलती है। हाड़-तोड़ परिश्रम करने के बाद वे मुश्किल से गुज़ारा करने लायक मज़दूरी कमा पाते हैं। मज़दूरों का असन्तोष समय-समय पर आन्दोलनों की शक्ल में फूटता रहता है पर ट्रेड यूनियनों की ग़द्दारी के कारण आगे नहीं बढ़ पाता। बंगलादेश के मज़दूर भी साम्राज्यवादी पूँजी और देशी पूँजी के अपवित्र गठबन्धन के उसी जुवे के नीचे पिस रहे हैं जिसके नीचे भारत, चीन या मेक्सिको और दक्षिण अफ़्रीका के मज़दूर। और इस तरह वे एक वैश्विक उत्पादन शृंखला का अंग हैं। और इसलिए दुनियाभर के सर्वहारा वर्ग के पैरों की बेड़ी बनी इस शृंखला को छिन्न-भिन्न करने के लिए बंगलादेश के मज़दूरों को भी पूरी दुनिया के मज़दूर आन्दोलन से जुड़ना पड़ेगा। आज के भूमण्डलीकरण के दौर में पूँजी की वैश्विक लूट का चरित्र कहीं अधिक साफ़तौर पर दिखायी पड़ रहा है। दुनियाभर के, और ख़ासतौर पर, एशिया, अफ़्रीका और लातिनी अमेरिका के पिछड़े पूँजीवादी देशों के मज़दूर असंख्य अदृश्य तारों से एक-दूसरे से जुड़ रहे हैं। पूरा विश्व पूँजीवादी तन्त्र जहाँ एक सम्बद्ध विशाल मशीनरी का रूप ले रहा है, वहीं इसके कारण इसकी अन्दरूनी ख़ामियाँ भी मज़दूरों के लिए ज़ाहिर हो रही हैं। दुनिया के एक कोने में आने वाले झटके का कम्पन सारी दुनिया में महसूस किया जाता है। बंगलादेश का मज़दूर भी आज उन सम्भावना-सम्पन्न मज़दूर वर्गों में से एक है जो भविष्य में ऐसे झटके विश्व पूँजीवादी तन्त्र को दे सकता है। लेकिन इसके लिए उसे संसदीय वामपन्थी और अन्य चुनावी पार्टियों की ट्रेड यूनियनों के जाल से छुटकारा पाना होगा और अपनी क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियनें खड़ी करनी होंगी; और साथ ही, अपनी इन्क़लाबी पार्टी के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ना होगा, जो पुराने फ़ार्मूलों के आधार पर नहीं, बल्कि ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के बल पर क्रान्ति का कार्यक्रम तैयार करे।

● जयपुष्प

ठेका प्रथा के ख़ात्मे की माँग...

(पेज 8 से आगे)

दूरगामी माँग यह है कि ठेका मज़दूरी को पूरी तरह समाप्त किया जाये। श्रम का ठेकाकरण पूरी तरह बन्द होना चाहिए क्योंकि यह मज़दूरों को अरक्षित बनाता है, उन्हें संगठित होने की क्षमता से वंचित करता है, उनकी मज़दूरी को कम करता है, उन्हें गुलामी जैसी कार्य-स्थितियों में धकेलता है और रोज़गार की एक शर्त भी पूरा नहीं करता : न यह रोज़मर्रा काम की गारण्टी करता है और न किसी प्रकार की आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा देता है। यह मज़दूर वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक तौर पर कमज़ोर करता है और उनसे लड़ने की ताक़त छीनता है। इसलिए ठेका प्रथा को समाप्त करना मज़दूर वर्ग की एक प्रमुख राजनीतिक माँग है।

जब तक इस दूरगामी माँग के लिए संघर्ष जारी है, तब तक के लिए तात्कालिक तौर पर दो तरह की माँगें की गयी हैं। पहली तात्कालिक माँग यह है कि ठेका मज़दूरी क़ानून के तहत ठेका मज़दूरों को मिलने वाले सभी अधिकारों को सुनिश्चित करने की ज़िम्मेदारी सरकार ले और इसका उल्लंघन करने वालों को कड़ी से कड़ी सज़ा दे। दूसरी तात्कालिक माँग यह है कि ठेका मज़दूरी क़ानून के ही कई प्रावधान मज़दूरों के प्रति पक्षपातपूर्ण हैं और उन्हें तत्काल संशोधित किया जाना चाहिए। मिसाल के तौर पर, 20 से अधिक मज़दूरों वाले उपक्रम में ही ठेका मज़दूरी क़ानून के प्रावधान लागू होंगे। इस प्रावधान का कोई अर्थ नहीं है। जहाँ एक भी ठेका मज़दूर हो वहाँ उसे आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा मिलनी चाहिए और इसलिए इस क़ानून के प्रावधान वहाँ भी लागू होने चाहिए। इसके अतिरिक्त, इस क़ानून में संशोधन के लिए तमाम सिफ़ारिशें भारत की न्यायपालिका ने की हैं, जो लागू किये जाने योग्य हैं। इन सिफ़ारिशों के अनुसार भी इस क़ानून में संशोधन किया जाना चाहिए।

इस माँग की राजनीतिक ज़रूरत और महत्त्व को समझने की आज मज़दूरों को सख़्त ज़रूरत है। मज़दूर वर्ग के ही एक हिस्से को यह लगने लगा है कि ठेका प्रथा की समाप्ति की माँग करना शेखचिल्ली जैसी बात करना है। सवाल यहाँ यह नहीं है कि ठेका प्रथा इस माँग के ज़रिये समाप्त हो ही जायेगी या नहीं। यहाँ सवाल इस बात का है कि हम चाहे ठेका प्रथा को समाप्त करवा पायें या न करवा पायें, इसे समाप्त करने की माँग करना अपने आप में पूँजीवाद की आम प्रवृत्ति पर चोट है। यह मज़दूरों को राजनीतिक तौर पर जागृत, गोलबन्द और संगठित करने में हमारी मदद करेगा और पूँजीवाद को उनके समक्ष बेपरदा कर देगा। हमें इस माँग के संघर्ष में कुछ भी खोना नहीं है, सिर्फ़ पाना ही पाना है। इसलिए माँगपत्रक आन्दोलन-2011 की इस माँग के बारे में साथ बैठकर पढ़ें, इसे समझें और इसे हर मज़दूर भाई-बहन के दिल में बिठा दें! यह मज़दूर वर्ग को पूँजी द्वारा उसे कमज़ोर करने के लिए लगातार किये जा रहे हमलों का एक ज़बर्दस्त प्रतिरोध होगा कि हम ठेका प्रथा को समाप्त करने की माँग से पूरी शासन-व्यवस्था को हिला दें! इस माँग को फैलायें! इसके लिए समर्थन जुटायें! आने वाली एक मई को माँगपत्रक आन्दोलन के पहले चरण के समापन पर संसद घेरने के लिए लामबन्द और संगठित हों!

अब चलो नई शुरुआत करो!
मज़दूर मुक्ति की बात करो!

●

पूँजीवादी गणतन्त्र में कौन बच्चा और कौन पिता!

आज़ाद-पाण्डेय के एनकाण्टर पर सुप्रीम कोर्ट की टिप्पणी

14 जनवरी को भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार और आन्ध्र प्रदेश सरकार से भाकपा (माओवादी) के नेता चेरीकुरी राजकुमार 'आज़ाद' और पत्रकार हेमचन्द्र पाण्डेय के फ़र्ज़ी एनकाउण्टर पर जवाब माँगा और कहा कि केन्द्र सरकार और आन्ध्र प्रदेश सरकार को बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों का जवाब देना होगा। सर्वोच्च न्यायालय हेमचन्द्र पाण्डेय की पत्नी बबीता और स्वामी अग्निवेश द्वारा दायर याचिका पर सुनवाई कर रहा था। यह एक तरह से न्यायपालिका द्वारा इस बात का स्वीकार है कि आज़ाद और पाण्डेय की आन्ध्र पुलिस द्वारा की गयी हत्या ग़ैर-क़ानूनी थी और यह मुठभेड़ फ़र्ज़ी थी।

याचिकाकर्ताओं ने एक मानवाधिकार संस्था कोऑर्डिनेशन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स ऑर्गनाइज़ेशंस द्वारा की गयी जाँच-पड़ताल रिपोर्ट का हवाला देते हुए कहा था कि इस फ़र्ज़ी मुठभेड़ में की गयी हत्या के ज़रिये आज़ाद और पाण्डेय को संविधान की धारा 14 और 21 के तहत मिलने वाले बुनियादी अधिकारों से वंचित किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने पूरे मामले का संज्ञान लेते हुए सरकार को फटकार लगायी है। पूरे देश में "माओवाद" के दमन के नाम पर जनता का दमन कर रही पूँजीवादी सत्ता के लिए यह झिड़की थोड़ी शर्मनाक स्थिति पैदा करने वाली थी। पूँजीवादी न्यायपालिका पूँजीवादी व्यवस्था में दमन, शोषण, भ्रष्टाचार के अनियन्त्रित तरीक़े से आगे बढ़ने पर उसे नियन्त्रित करने का काम हमेशा ही करती है। इस बार भी न्यायपालिका ने अपनी यह भूमिका निभायी है। बुर्जुआ लोकतन्त्र से जनता का भरोसा न उठे इसके लिए ज़रूरी है कि जब पूँजीवादी व्यवस्था के एक हाथ से लोगों पर संगीनें बरसायी जा रही हों तो दूसरे हाथ की तर्जनी लोकतन्त्र के प्रवचन के लिए उठी हो। पुलिस, फ़ौज समेत सभी सशस्त्र बल और ख़ुफ़िया एजेंसियाँ पहले हाथ का काम करती हैं और न्यायपालिका दूसरे हाथ का। लेकिन फिर भी इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय के इस हस्तक्षेप से सरकार की काफ़ी किरकिरी हुई है।

लेकिन अपनी टिप्पणी में सर्वोच्च न्यायालय की बेंच ने जिस शब्दावली का इस्तेमाल किया है, वह ग़ौर करने लायक है। सर्वोच्च न्यायालय की इस बेंच ने, जिसमें न्यायाधीश आफ़ताब आलम और न्यायाधीश आर.एम. लोढ़ा थे, कहा है, "हम गणतन्त्र को अपने ही बच्चों की हत्या की अनुमति नहीं दे सकते हैं।" इस पर केन्द्र और आन्ध्र प्रदेश राज्य सरकार से जवाब माँगते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कहा, "हमें उम्मीद है कि कोई जवाब दिया जायेगा। और वह एक अच्छा और सहमत करने वाला जवाब होगा।" इस टिप्पणी में सर्वोच्च न्यायालय में भारत की जनता को भारतीय गणतन्त्र का "बच्चा" कहा है। ज़ाहिर है कि इस समीकरण से यह पूँजीवादी गणतन्त्र पिता हो गया। अब यहाँ दो सवाल उठते हैं।

पहला सवाल तो यह है इस पिता ने (अगर उसे वाक़ई "पिता" माना जा सकता है) अपने "बच्चों" के साथ आज तक कैसा व्यवहार किया है? आइये देखते हैं। आज़ादी के तुरन्त बाद जब भारतीय गणतन्त्र अस्तित्व में आया तो इसने अपने बच्चों के साथ पहली बड़ी कार्रवाई क्या की? तेलंगाना के किसानों पर मानवतावादी प्रधानमन्त्री नेहरू ने गोलियाँ बरसायीं और जायज़ हक़ों के लिए किये जा रहे उस पूरे संघर्ष को ख़ून की दलदल में डुबो दिया। अपने ही देश की जनता पर सेना के इस्तेमाल का एक उदाहरण भारतीय सरकार द्वारा तेलंगाना के किसानों का दमन भी था। इसके बाद, नक्सलबाड़ी के किसानों की बग़ावत को कुचलने में भी इस पितातुल्य गणतन्त्र ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी। और आपातकाल के 19 महीनों को कौन भूल सकता है? कौन भूल सकता है कलकत्ता की सड़कों पर बर्बरता से मारे गये उन हज़ारों नौजवानों को, जो अपनी पीढ़ी की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाएँ थे? क्या बेलछा, बेलाडिला, और पन्तनगर जैसे जघन्य हत्याकाण्डों को भूला जा सकता है? भारतीय गणतन्त्र द्वारा अपने "बच्चों" के साथ यह बर्ताव कोई नया नहीं है। ऐसा तो इस गणतन्त्र के अस्तित्व में आने के समय से ही चला आ रहा है। आज भी ऑपरेशन ग्रीन हण्ट के अतिरिक्त भी हर दिन देश के किसी न किसी हिस्से में अपने जायज़ हक़ों के लिए लड़ रहे मज़दूर, किसान, छात्र पुलिस की गोलियों और लाठियों का शिकार बनते हैं। ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय को आश्चर्य किस बात पर है?

दूसरा सवाल यह है कि लोकतान्त्रिक गणतन्त्र का अर्थ होता है 'जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए'। अब इसमें बाप-बेटे का रिश्ता कहाँ से आ गया? वास्तव में, यह भारत जैसे विकलांग और बौने पूँजीवादी विकास वाले देश में पूँजीवादी न्यायपालिका की प्रकृति के बारे में काफ़ी-कुछ बताता है। ऐसे देश में पूँजीवादी न्यायपालिका (जिसे पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में बेदाग़ बुर्जुआ जनवाद के उसूलों का अवशेष माना जा सकता है) भी लोकतान्त्रिक भावना से परिपूर्ण नहीं होती। वह अधिक से अधिक उदार प्रबुद्ध निरंकुश हो सकती है। लेकिन हमें बर्बर पूँजीवादी निरंकुशता की जगह उदार पूँजीवादी प्रबुद्ध निरंकुशता नहीं चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था में सत्ता के ग़ैर-जनवादी और बर्बर हो जाने पर एक प्रबुद्ध और उदार निरंकुश शासन (अक्सर एक शासक व्यक्ति के रूप में) की माँग पराजयबोध से ग्रस्त निम्न पूँजीपति वर्ग की माँग होती है। जैसे कि जब टुटपुँजिया वर्ग का कोई व्यक्ति नौकरशाही की घूसखोरी और मनमानेपन से परेशान हो जाता है तो वह कहता है कि 'इस देश में हिटलर की ज़रूरत है' या 'साहब! इन्दिरा गाँधी की इमरजेंसी के टाइम में मजाल थी कि ट्रेन एक मिनट लेट हो जाये।' यही निम्न पूँजीवादी स्पिरिट अगर प्रबुद्ध तरीक़े से अभिव्यक्त की जाये तो उसे उन शब्दों में भी रखा जा सकता है जिन शब्दों में सर्वोच्च न्यायालय ने आज़ाद और पाण्डेय के फ़र्ज़ी एनकाउण्टर पर सरकार को फटकारा और उपदेश दिया है। सन्देश साफ़ है। पूँजी के आज के दौर की ज़रूरतें पूरी पूँजीवादी व्यवस्था में जनवादी स्पेस को ख़त्म कर रही हैं। अब जनता के बुनियादी जनवादी अधिकारों के हनन के बिना पूँजी भारत जैसे देशों में अपने मुनाफ़े की दर को बनाये नहीं रख सकती है। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था का बुर्जुआ जनवाद भी जितने अधिकार आम जनता को देता था, वे क्षरित हो रहे हैं और बुर्जुआ तानाशाही का पहलू अधिक से अधिक उजागर होता जा रहा है। इसलिए पूँजीवादी सत्ता अब निरंकुश ही हो सकती है। न्यायपालिका ज़्यादा से ज़्यादा यही कह सकती है कि बर्बर निरंकुश नहीं प्रबुद्ध उदार निरंकुश बनो। यह भी नहीं बनोगे तो अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारोगे!

लेकिन हमें किसी क़िस्म की निरंकुशता नहीं चाहिए। न बर्बर क़िस्म की और न ही प्रबुद्ध क़िस्म की। हमें हमारे हक़ चाहिए; हमें सच्चा जनवाद चाहिए। और यह सच्चा जनवाद पूँजीवादी लोकतन्त्र में नहीं मिल सकता है। यह सच्चा जनवाद एक समतामूलक व्यवस्था में ही मिल सकता है। सर्वहारा जनवाद ही सच्चा जनवाद है क्योंकि यह बहुसंख्यक आम मेहनतकश आबादी के लिए जनवाद है और अल्पसंख्य शोषकों के लिए अधिनायकत्व। आज का पूँजीवादी जनवाद ऐसा ही हो सकता है। उसकी परिणति पूँजीवादी व्यवस्था के संकट बढ़ने के साथ ही निरंकुशता में होती है। क्योंकि यह अल्पसंख्यक शोषकों के लिए जनवाद है और बहुसंख्यक आम मेहनतकश जनता के लिए तानाशाही। जब तक पूँजीवाद रहेगा तब तक किसी क़िस्म के निष्कलंक और पूर्ण जनवाद की आकांक्षा करना बचकानापन है।

● शिशिर

हैरिंग इण्डिया में मज़दूरों का शानदार संघर्ष और अर्थवादी सीटू का विश्वासघात

(पेज 7 से आगे)

को निकाल दिया, जिसमें यूनियन अध्यक्ष विश्वम्भर व अन्य कार्यकारिणी सदस्य भी हैं। प्रबन्धन के इस तानाशाहीपूर्ण रवैये के विरोध में मज़दूरों ने काम बन्द कर दिया और 2 नवम्बर 2010 से फ़ैक्टरी गेट पर हड़ताल स्थल बनाकर बैठ गये। 2 नवम्बर 2010 से चली हड़ताल काफ़ी उतार-चढ़ाव भरी रही। इसी दौरान एलाइड निप्पोन के गोलीकाण्ड ने प्रशासन को मजबूर किया कि मज़दूरों के अन्दर पल रहे गुस्से को विस्फोटक होने से रोके। वार्ता के दौरान प्रबन्धन का कहना था कि 6 महीने बाद निकाले गये 6 मज़दूरों को अन्दर रखा जायेगा। यह बात मज़दूरों को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं थी। उनका कहना था कि 6 लोगों को सीधे काम पर लिया जाये। आगे चलकर प्रबन्धन तीन महीने पर आकर अड़ गया। जिस दौरान मज़दूर वर्ग से लगातार ग़द्दारी करने वाली संसदीय वामपन्थी टट्टू माकपा की ट्रेड यूनियन सीटू के लोग भी यह मनवाने की कोशिश करने लगे कि अभी जो तय हो रहा है उतना मान लिया जाये। लेकिन मज़दूर तैयार नहीं हुए। अन्ततः श्रम कार्यालय में 20 नवम्बर 2010 को तय हुआ कि निकाले गये 6 लोगों को 27 जनवरी 2011 को काम पर लिया जायेगा। और इस दौरान का वेतन मज़दूरों को मिलेगा। 22 नवम्बर 2010 से मज़दूर फिर काम पर आ गये हैं। अब इन्तज़ार है कि आगामी 27 जनवरी 2011 को मैनेजमेण्ट निकाले गये 6 लोगों को वापस लेता है या नहीं।

संघर्ष के इस रूप में मज़दूर कहाँ तक माँगें मनवा पायेंगे यह आगे देखना होगा। जब तक वे अपने साथ अपने ही कारख़ाने के ठेका, दिहाड़ी मज़दूरों की माँग नहीं रखते तब तक कारख़ाने के आधार पर भी ताक़त अधूरी है। आने वाले समय में जिस तरह से ठेकाकरण का ज़ोर बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे स्थायी मज़दूरों को भी एक-एक करके निकाला जायेगा और ठेका मज़दूरों की संख्या बढ़ायी जायेगी। वहाँ ऐसे में अगर संघर्ष महज वेतन भत्तों तक सीमित रहेगा तो उतना ही कमजोर पड़ता जायेगा। हैरिंग इण्डिया के मज़दूरों को भी सोचना पड़ेगा कि अर्थवादी चवन्नीवादी फ़ेडरेशन सीटू की भूमिका आन्दोलन के समय कैसी थी? जब मज़दूर संघर्ष कर रहे थे तो ये लगभग ग़ायब ही थे। जब मज़दूर संघर्ष करना चाहते हैं और करते हैं तो यह (सीटू) मालिकों की हाँ में हाँ मिलाते मज़दूरों को कम से कम पर मनाने की कोशिश करते हैं। यही इनका चरित्र है। हर जगह के आन्दोलन में इनकी यही भूमिका देखने को मिलती है।

हैरिंग इण्डिया के मज़दूरों को जहाँ एक ओर सीटू जैसी संशोधनवादी अर्थवादी ग़द्दार ट्रेड यूनियनों से छुटकारा पाना होगा, वहीं ठेका मज़दूरों के मुद्दों को भी अपने साथ लेना होगा। यही हैरिंग इण्डिया में मज़दूरों की सबसे मज़बूत एकता की तरफ़ ले जायेगा। उन्हें यह लड़ाई अपने बल पर लड़नी होगी और इस विभ्रम से निकलना होगा कि चूँकि सीटू एक बड़ा ट्रेड यूनियन संघ है इसलिए उसके हस्तक्षेप से वे जल्द से जल्द अपनी माँगें जीत सकते हैं।

वास्तव में, आज के समय में हर जगह ही सीटू की भूमिका मालिकों के दलाल की बन रही है। जहाँ-जहाँ मज़दूर अपने दम पर एक रुपया जीत सकते हैं, वहाँ सीटू उन्हें दुअन्नी दिलवाकर मालिकों को फ़ायदा पहुँचाता है। चाहे तो एलाइड निप्पोन के संघर्ष को देख लें या फिर आई.ई.डी. कारख़ाने के मज़दूरों के संघर्ष को देख लें। हर जगह सीटू ने मज़दूरों की पीठ में छुरा भोंकने का काम किया है।

ऐसे में कितनी बार धोखा खायें? मज़दूरों को "विशाल पंजीकृत यूनियन" होने का तर्क अपने दिमाग़ से निकालकर सीटू जैसी यूनियनों का भण्डाफोड़ करना चाहिए और उन्हें कहीं भी अपनेघर में घुसने नहीं देना चाहिए। यह मालिकों का ट्रोजन हॉर्स है।

●

काकोरी के शहीदों की याद में 'अवामी एकता मार्च'

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन और बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से काकोरी के शहीदों की याद में करावल नगर में 'अवामी एकता मार्च' निकाला गया। सैकड़ों मज़दूरों और नौजवानों ने शहीदों की स्मृति में जुटान की। मार्च की शुरुआत सुबह नौ बजे शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, मुकुन्द विहार से की गयी। मार्च में नौजवान के हाथ में काकोरी के शहीदों की तस्वीरें और नारे लिखी तख्तियाँ थीं। छात्रों, नौजवानों और मज़दूरों ने 'अशफ़ाकउल्ला बिस्मिल का पैग़ाम – जारी रखना है संग्राम', 'अशफ़ाकउल्ला बिस्मिल की दोस्ती – अमर रहे अमर रहे', 'शहीदों का सपना आज भी अधूरा – छात्र और नौजवान उसे करेंगे पूरा' आदि नारे लगा रहे थे। इस मार्च में उपरोक्त संगठनों द्वारा पर्चा निकाला गया जिसका शीर्षक था 'जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो – सही लड़ाई से नाता जोड़ो'।

मार्च के दौरान करावल नगर के शहीद भगतसिंह कॉलोनी, पश्चिम करावल नगर में की गयी नुक्कड़ सभाओं में नौजवान भारत सभा के प्रेमप्रकाश ने कहा कि देश के हुक्मरान आये दिन मेहनतकशों को धर्म-जाति के नाम पर बाँट रहे हैं। ऐसे में अशफ़ाक, बिस्मिल, रोशन सिंह, राजेन्द्र सिंह लाहिड़ी की शहादत को याद करने का एक ही मकसद है कि सच्ची आज़ादी के लिए नये सिरे से एकजुट होकर जंग छेड़ी जाये। नौजवान और मज़दूर सच्ची आज़ादी के लिए एकजुट होकर संघर्ष करें।

"शहादत को याद करने का मकसद नौजवान-मज़दूरों को सच्ची आजादी के लिए एकजुट करना"

दिशा छात्र संगठन के कुणाल ने कहा कि अपनी बदहाली और तंगहाली को दूर करने के लिए फिर से अपने शहीदों को याद करना होगा जिन्होंने मजहब की दीवार को तोड़कर अवाम की मुक्ति के इन्क़लाब की शुरुआत की थी। अवामी एकता मार्च पश्चिम करावल नगर, मक्खन सिंह मार्किट से होते हुए मुकुन्द विहार में समाप्त हुआ। अवामी एकता मार्च को देर शाम मुस्तफ़ाबाद इलाक़े में चलाया गया। जिसमें मार्च के संयोजक योगेश ने कहा कि काकोरी के शहीदों का सपना था – देश की मेहनतकश आबादी अपने मजहब-जात की दीवार गिरकर मुट्ठीभर लुटेरों के ख़िलाफ़ एकजुट हो। यही बिस्मिल और अशफ़ाकउल्ला का सन्देश है।

●

सीटू की गद्दारी से आई.ई.डी. के मज़दूरों की हड़ताल नाकामयाब

(पेज 16 से आगे)

की धमकी से वे नहीं डरते और जब सीटू नहीं था, तब भी वे संघर्ष कर रहे थे। लेकिन कारख़ाना यूनियन के नेता इस बात से घबरा गये। उन्हें लगा कि अगर कोई बड़ी पंजीकृत यूनियन उनके साथ नहीं होगी तो वे लड़ नहीं पायेंगे। सीटू ने इस बीच बिगुल मज़दूर दस्ता के बारे में दुष्प्रचार शुरू कर दिया। दुष्प्रचार में ऐसी हास्यास्पद बातें बिगुल मज़दूर दस्ता के बारे में बोली गयीं जो आश्चर्यजनक थीं। जैसे कि एलाइड निप्पोन में गोली बिगुल के लोगों ने चलवायी थी!! इसके अलावा, यह भी कुत्साप्रचार किया गया कि बिगुल मज़दूर दस्ता के लोग पहले संघर्ष को आगे ले जाते हैं और फिर ग़ायब हो जाते हैं। इन प्रचारों का सीटू के पास कोई आधार और प्रमाण नहीं था। नतीजतन, इसका कोई ख़ास असर मज़दूरों पर नहीं हुआ। लेकिन सीटू की यह बात मज़दूरों और ख़ासतौर पर कारख़ाना यूनियन के नेताओं को प्रभावित कर रही थी कि सीटू एक विशाल पंजीकृत यूनियन है और पंजीकृत यूनियन के बिना कोई लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती है। अन्ततः कारख़ाना यूनियन के नेताओं ने बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों से कहा कि फ़िलहाल आप लोग चले जाइये। हम आपको फिर बुलायेंगे। हम सीटू से सावधान रहेंगे और अगर वह लड़ती नहीं है तो हम उसे मज़ा चखायेंगे। बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी यह कहकर वहाँ से चले गये कि संघर्ष जीतने की गारण्टी समझौताविहीन जुझारू लड़ाई होती है। यही मज़दूरों का वास्तविक पंजीकरण होता है। 'मज़दूर बिगुल' के लोगों ने मज़दूरों से कहा कि अपने आँख, नाक और कान खुले रखें। सीटू पर भरोसा न करें और उन चार माँगों से पीछे न हटें। इसके बाद धरना 31 दिसम्बर तक जारी रहा।

1 जनवरी को सीटू और मालिकान के बीच वार्ता हुई जिसमें मालिकों ने चन्द रुपये वेतन बढ़ाने के लिए कहा, लेकिन साथ ही यह भी कहा कि हाउस रेंट व अन्य सुविधाएँ ख़त्म कर दी जायेंगी। निकाले गये 6 लोगों को वापस लेने के बारे में मालिकों ने तीन महीने बाद बात करने के लिए कहा, जिसका अर्थ था कि वे इस माँग पर नहीं मानने वाले हैं। सीटू के लोग इस बात पर सहमत होकर चले आये। लेकिन मज़दूर इस पर सहमत नहीं हुए और लड़ाई जारी रखने का निर्णय किया।

हड़ताल की शुरुआत, सीटू की ग़द्दारी, कारख़ाना यूनियन का अवसरवाद और आन्दोलन की पराजय

3 जनवरी को हड़ताल शुरू हो गयी और सीटू की बात मानने को मज़दूर राजी नहीं हुए। मज़दूर लगातार इस बात के लिए सीटू पर दबाव बनाये हुए थे कि बिगुल मज़दूर दस्ता ने जिन मुद्दों को रेखांकित किया है उन पर संघर्ष जारी रखा जाये। 4 जनवरी को भी सीटू मज़दूरों को मनाने में लगा रहा कि अभी हड़ताल स्थगित कर दी जाये और 12 तारीख़ से फिर से हड़ताल की जाये। दरअसल, इस दौरान कम्पनी के पास टाटा के पास से एक बड़ा ऑर्डर आया था जिसे उसे समय पर पूरा करना था। इसीलिए सीटू मालिकों की शह पर फ़िलहाल हड़ताल को ख़त्म करने की बात कर रही थी और लगातार मज़दूरों को अपने पंजीकृत यूनियन होने की धौंस जमाकर ब्लैकमेल करने की कोशिश कर रही थी। इस पर भी मज़दूर तैयार नहीं हुए। इसके बाद सीटू के नेता वहाँ से बेआबरू होकर चले गये। इसी बीच कारख़ाना यूनियन के नेताओं ने 'मज़दूर बिगुल' के साथियों को फ़ोन करके कहा कि सीटू वाले भाग गये हैं और आप यहाँ आ जाइये और मंच सँभालिये। जब बिगुल के कुछ साथी कारख़ाने के पास पहुँचे तो वहाँ एक मज़दूर पंचम उन्हें मिल गया जिसे कारख़ाना यूनियन के नेताओं ने यह कहकर भेजा था कि उन्हें कहीं बिठाकर चाय-पानी कराओ। उस मज़दूर ने बताया कि कारख़ाना यूनियन के नेताओं से मिलने के लिए अभी सीटू वाले आने वाले हैं और अगर वे लड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं तो आप लोग वहाँ चलियेगा। यहाँ एक बात साफ़ हो गयी थी। कारख़ाना यूनियन का नेतृत्व चाहता था कि सीटू के लोग वहाँ से न जायें। इसके लिए वह बिगुल मज़दूर दस्ता के समर्थन को एक बटखरे के तौर पर इस्तेमाल कर रहा था और सीटू को यह सन्देश दे रहा था कि अगर तुम लोग नहीं आते हो तो हमारे साथ बिगुल मज़दूर दस्ता तो है ही! यह कारख़ाना यूनियन के नेतृत्व का अवसरवाद था जिसकी क़ीमत उसने बाद में चुकायी।

सीटू के नेताओं ने कारख़ाने पर पहुँचकर बिगुल मज़दूर दस्ता के बारे में जमकर कुत्सा प्रचार किया और कहा कि बिना पंजीकृत यूनियन के कोई संघर्ष नहीं जीता जा सकता है; बिगुल वाले मालिकों से मिल जाते हैं; इनकी कोई फ़ेडरेशन नहीं है, वग़ैरह। शाम को चार बजे तक सीटू वाले बिगुल के बारे में धुन्ध फैलाने का प्रयास करते रहते हैं और फिर भी मज़दूरों को सहमत नहीं कर पाये। इसके बाद वे वहाँ से चले गये। इस समय तक मज़दूरों के दिमाग़ में एक संशय ज़रूर बन गया था कि बिना पंजीकरण के कैसे लड़ा जा सकता है? इसके अतिरिक्त, जो कुत्साप्रचार बिगुल मज़दूर दस्ता के बारे में किया गया था, उसके कारण कुछ मज़दूरों में शक की स्थिति भी पैदा हो गयी थी। लेकिन फिर भी चार बजे बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों को कारख़ाने पर बुलाया गया और मंच उनके हवाले कर दिया गया। मज़दूर जानना चाहते थे कि बिगुल मज़दूर दस्ता की योजना क्या है।

आशीष ने सबसे पहले मज़दूरों के कारख़ाना नेताओं की आलोचना रखते हुए कहा कि हमें बटखरे के तौर पर इस्तेमाल न करें। हमारे पास संघर्ष की पूरी योजना है और हम उस पर चलकर जीत हासिल कर सकते हैं। लेकिन इसकी कोई समय-सीमा नहीं तय की जा सकती। बस इतना कहा जा सकता है कि अगर एकजुट, जुझारू और योजनाबद्ध तरीक़े से फ़ैसलाकुन संघर्ष चलाया जाये तो जीत हमारी ही होगी। लेकिन इसके लिए पहले दो नावों पर सवारी करना बन्द करना होगा। सीटू को इस संघर्ष से निकाला जाये, तभी हम इस संघर्ष को नेतृत्व दे सकते हैं। क्योंकि अगर हम अपनी योजना यहाँ लागू कर भी दें तो सीटू उसे असफल बनाने के लिए हर सम्भव प्रयास करेगा और मालिकों की दलाली करेगा। ऐसे में दुश्मन के छिपे हुए सैनिक को अपने शिविर में रखना कहाँ की समझदारी है? मज़दूर संघर्ष की योजना पर सहमत थे और उन्हें लग रहा था कि ऐसा कोई रास्ता हो सकता है जिससे सीटू के पंजीकरण का लाभ भी उन्हें मिल जाये और संघर्ष को चलाने की बिगुल मज़दूर दस्ता की समझदारी भी हमें मिल जाये। इस पर आशीष ने स्पष्ट किया कि पहले आप सीटू के नेतृत्व में संघर्ष को पूरा लड़ लें और जब आपका पंजीकरण के तर्क से पूरा मोहभंग हो जाये तब हमसे सम्पर्क कीजियेगा। हम इस आन्दोलन में आपके साथ हैं लेकिन जब तक इसमें सीटू का नेतृत्व होगा, हम इसे बाहर से समर्थन देंगे। इसमें शामिल होकर सीटू की समझौता-परस्ती के तहत काम नहीं किया जा सकता है। यह कहकर बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी 4 जनवरी की शाम वहाँ से चले गये।

अगले दिन, 5 जनवरी को संघर्ष के कमज़ोर होने की गन्ध मालिकों तक पहुँच चुकी थी। नतीजतन, मालिकों ने 20 और मज़दूरों को निकाल बाहर किया, जिसमें कई लोग कारख़ाना यूनियन के नेतृत्व के थे। हड़ताल जारी रही और सीटू के नेता अपनी दलाली के काम में मशगूल रहे। वे लगातार आकर समझौता कर लेने के लिए मज़दूरों पर दबाव डाल रहे थे। संघर्ष के ढीले तरीक़े से खिंचते जाने को लेकर मज़दूर निराश हो रहे थे। मज़दूरों का एक बड़ा हिस्सा बिगुल मज़दूर दस्ता के जाने से भी पस्त हो गया था। उन्हें लगता था कि कारख़ाना यूनियन का नेतृत्व ग़लत कार्रवाइयाँ कर रहा है। लेकिन उसके ख़िलाफ़ तुरन्त जाने का साहस अभी किसी में नहीं था। वार्ता के लिए 11 जनवरी की तिथि सीटू ने सी.ओ. के साथ मिलकर तय की। लेकिन यह वार्ता असफल रही। इसके बाद 15 जनवरी को यूनियन व मैनेजमेण्ट के बीच श्रम विभाग में वार्ता हुई। इस वार्ता में मालिक इंजीनियरिंग ग्रेड के वेतन और प्रतिवर्ष 40 रुपये की वेतन बढ़ोत्तरी देने के लिए राजी हुए। लेकिन इसके साथ सारे भत्तों को समाप्त कर देने का भी निर्णय किया। यानी कि कुल वेतन बढ़ोत्तरी मामूली हो गयी, जो मालिक 1 जनवरी को ही देने के लिए तैयार था। निकाले गये मज़दूरों के बारे में मैनेजमेण्ट ने कहा कि उनके बारे में 2-3 महीने बाद फ़ैसला किया जायेगा। इस समय तक मज़दूर काफ़ी थक चुके थे और यह मन बना चुके थे कि यूनियन जो तय कर देगी उस पर वे मान जायेंगे। अगर 6 निकाले गये मज़दूरों को वापस नहीं लिया जाता है तो भी वे मान जायेंगे। एक तरह से संघर्ष हारा जा चुका था। यूनियन भी इस समझौते का मानने का मन बना चुकी थी। सीटू ने मज़दूरों को थका डालने और पस्त कर देने में काफ़ी केन्द्रीय भूमिका निभायी।

यह रपट लिखे जाने तक जो ख़बर मिली थी उसके अनुसार 18 जनवरी को मालिकों की शर्तों पर मानने के लिए यूनियन तैयार हो जाने वाली थी। ज़्यादा उम्मीद भी यही थी। इस दौरान आस-पास के स्थानीय चुनावी नेता आदि भी मज़दूरों के बीच आने लगे थे। उन्हें लग रहा था कि इस संघर्ष के ज़रिये वे भी कुछ फ़ायदा उठा सकते हैं और मालिकों से दलाली खा सकते हैं। इन सबसे मज़दूरों का उत्साहवर्द्धन होने की बजाय उत्साह और कम हो रहा था और संघर्ष जीत पाने की उम्मीद अब लोग खोने लगे थे। कुल मिलाकर, मालिकों की शर्तों पर समझौता होते ही सीटू के कारण यह आन्दोलन एक शर्मनाक हार में ख़त्म होगा। मज़दूरों को इतना देने के लिए तो मालिक 1 जनवरी को ही तैयार हो जाता। ऐसे में इतने दिनों की हड़ताल का क्या अर्थ था? इतने दिन जो दिक्क़तें मज़दूरों ने उठायी, वे एक प्रकार से व्यर्थ चली गयीं।

मज़दूर वर्ग में मौजूद विजातीय प्रवृत्तियाँ

लेकिन इस हार के लिए सिर्फ़ सीटू को ही ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। वास्तव में, इस हार के पीछे मज़दूर वर्ग में मौजूद क़ानूनी विभ्रम (यानी पंजीकरण का विभ्रम), अवसरवादिता, अर्थवाद और ट्रेड यूनियनवाद भी ज़िम्मेदार था। मज़दूरों का कारख़ाना नेतृत्व अपना दिमाग़ संघर्ष की रणनीति बनाने, मज़दूरों में एकजुटता बनाने और योजना तैयार करने की बजाय बिगुल मज़दूर दस्ता के जुझारू तरीक़ों का और सीटू के पंजीकरण का इस्तेमाल करने में ख़र्च कर रहा था। नतीजा, यह हुआ कि 'न खुदा ही मिला न विसाले-सनम'।

और नेतृत्व के अलावा मज़दूरों के एक हिस्से में भी यह मानसिकता काम कर रही थी कि अगर पंजीकृत यूनियन का साथ छूट गया तो वे अनाथ हो जायेंगे। उन्हें स्वयं से पूछना चाहिए कि सबसे बड़ी पंजीकृत यूनियनों में से होने के बावजूद सीटू ने नोएडा के हालिया मज़दूर संघर्षों में क्या भूमिका निभायी है? हर जगह सीटू ने मज़दूर संघर्षों को अपनी ग़द्दारी से तोड़ा है और मालिकों के तलवे चाटे हैं। अन्ततः हर जगह मालिकों को ही फ़ायदा पहुँचाया है। चाहे एलाइड निप्पोन का संघर्ष देख लें या फिर हैरिंग इण्डिया का संघर्ष; ग्रैज़ियानो का संघर्ष देख लें या फिर देश के किसी भी अन्य हिस्से का मज़दूर संघर्ष। हर जगह इस पंजीकृत संशोधनवादी यूनियन ने मज़दूरों की पीठ में छुरा भोंकने का काम किया है। इसलिए मज़दूरों को याद रखना चाहिए कि संघर्ष की ताक़त और जुझारूपन ही संघर्ष का पंजीकरण होता है। ताक़त से पंजीकरण भी हो जाता है। लेकिन सिर्फ़ पंजीकरण से ताक़त नहीं पैदा हो जाती। माकपा संसदीय वामपन्थियों की सरदार है और इस अर्थ में वह मज़दूर वर्ग के मीर जाफ़रों और जयचन्दों की भी सरदार है। ऐसे में आप उसकी यूनियन सीटू से क्या उम्मीद कर सकते हैं? उसका सारा पंजीकरण धरा का धरा रह जाता है। जैसा कि आई.ई.डी. के संघर्ष में भी हुआ।

इसके अतिरिक्त, इस संघर्ष में यह बात भी उभरकर आयी कि मज़दूरों के बीच अर्थवाद की प्रवृत्ति भी गहरायी से जड़ जमाये हुए थी। जब तक बिगुल मज़दूर दस्ता इस संघर्ष में शामिल नहीं हुआ था तब तक वेतन बढ़ोत्तरी और बोनस ही मुख्य माँग बनी हुई थी। जिस कारण से मज़दूरों की उँगलियाँ कटी थीं और काम करने की स्थितियाँ ख़तरनाक बनी हुई थीं, उस पर मज़दूर कोई माँग नहीं कर रहे थे। संघर्ष के अन्त तक बस इतना हुआ कि यह माँग मज़दूरों के दिमाग़ में दर्ज हो गयी। लेकिन अब भी मुख्य ज़ोर वेतन बढ़ोत्तरी पर ही था। इस अर्थवाद की प्रवृत्ति से भविष्य में मज़दूरों को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ सकता है। इससे जितनी जल्दी मुक्त हुआ जा सके, हो जाना चाहिए।

एक और कमज़ोरी जिसके बारे में हमें सोचने की ज़रूरत है, वह यह है कि इस पूरे संघर्ष में ठेके और दिहाड़ी पर काम करने वाले मज़दूरों को साथ लेने की कोई बात नहीं की गयी। वास्तव में उनको साथ लेने की कोशिश ही नहीं की गयी। यह संघर्ष मुख्य तौर पर स्थायी मज़दूरों का वेतन बढ़ोत्तरी का संघर्ष था। ये मज़दूर तुलनात्मक रूप से सुरक्षित हैं और एक हद तक वेतन बढ़ोत्तरी की लड़ाई तक ही सीमित रहने की मानसिकता के शिकार हैं। ठेका और दिहाड़ी मज़दूरों से यह कोई एका महसूस नहीं करते हैं। सुरक्षा की भावना के कारण एक अवसरवाद और जुझारूपन की कमी इनके भीतर घर कर गयी है। जब तक इस प्रवृत्ति को तोड़कर कारख़ाने के सभी मज़दूरों की एकता नहीं बनायी जाती तब तक एक कमज़ोरी बनी रहेगी। इस कमज़ोरी के ही कारण वे आपस में एक-दूसरे का भी पूरी तरह साथ नहीं देते। यही तो कारण था कि छह मज़दूरों को वापस लेने के मुद्दे को भविष्य पर टालने के लिए यूनियन तैयार हो गयी। लेकिन इस क़दम से उन्होंने अपने ही पाँव पर कुल्हाड़ी मारी है। क्योंकि इससे उनके एक-दूसरे पर से परस्पर विश्वास डगमगाया है। कल अगर और मज़दूरों को मालिक बाहर करता है तो उनके लिए कौन लड़ेगा? यह फ़र्क़ वास्तव में औपचारिक और अनौपचारिक मज़दूर का फ़र्क़ है और इसके बारे में हम 'मज़दूर बिगुल' में पहले भी लिखते रहे हैं। आज लड़ने के लिए सर्वाधिक जुझारूपन अनौपचारिक मज़दूर दिखला रहा है। स्थायी मज़दूरों का संघर्ष अब अलग रहकर अपना अस्तित्व नहीं बचा सकता है। अब मज़दूर संघर्ष के एजेण्डे पर अनौपचारिक मज़दूरों के मुद्दों को लाकर उन्हें साथ लेकर, एक एकीकृत मज़दूर आन्दोलन खड़ा करना होगा। यह मुश्किल है, लेकिन असम्भव नहीं। आई.ई.डी. कारख़ाने के मज़दूरों को भी यह बात समझनी होगी।

निष्कर्ष

इन कमज़ोरियों को दूर करके आई.ई.डी. कारख़ाने के मज़दूरों को इस पराजय से सबक़ लेना होगा। उन्हें इस संघर्ष का समीक्षा-समाहार करना होगा और फिर भविष्य में अपने वास्तविक मुद्दों को लेकर फिर से संघर्ष संगठित करना होगा। इसके लिए उन्हें नये सिरे से अपने कारख़ाने का नेतृत्व संगठित करना होगा और सीटू जैसी ग़द्दार यूनियनों से पीछा छुड़ाना होगा। इसके साथ ही, उन्हें अपने भीतर मौजूद ग़ैर-सर्वहारा प्रवृत्तियों से मुक्ति पानी होगी और इस बात को समझना होगा कि दुअन्नी-चवन्नी की लड़ाई से आगे बढ़कर ही मज़दूर राजनीतिक तौर पर सचेत और संगठित हो सकता है। और बिना राजनीतिक तौर पर सचेत और संगठित हुए दूरगामी तौर पर वे अपने आपको कमज़ोर करेंगे। यह पराजय अन्त नहीं है। आगे अपने संघर्ष को क्रान्तिकारी और जुझारू तरीक़े से संगठित करके हम फिर से लड़ सकते हैं। और निश्चित तौर पर जीत भी सकते हैं।

●

मज़दूर वर्ग के लिए आशाओं के उद्गम और चुनौतियों के स्रोत

(पेज 1 से आगे)

सही विश्लेषण के आधार पर मज़दूर क्रान्ति का सही कार्यक्रम और रास्ता प्रस्तुत कर सकने वाला कोई परिपक्व और मँझा हुआ राजनीतिक नेतृत्व आज अनुपस्थित दिख रहा है। इसलिए पूँजीवाद के लगातार पतन और कमज़ोर होते जाने के बावजूद भी श्रम का शिविर अभी निराशा के अँधेरे में डूबा हुआ दिख रहा है। इसके कारणों पर हम आगे चर्चा करेंगे।

भारत और चीन जैसी उभरती पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से जुड़े होने के बावजूद इस क़दर नहीं जुड़ी थीं, कि संकट का उन पर वैसा ही असर हो जैसा कि यूरोप के देशों और अमेरिका पर हुआ। संकट का असर भारत पर भी पड़ा लेकिन वैश्विक वित्तीय व्यवस्था से कम जुड़ाव और देश की वित्तीय व्यवस्था के अभी भी काफ़ी हद तक नेहरूआई विनियमन और नियन्त्रण के अन्तर्गत होने के कारण यह असर उन्नत पूँजीवादी देशों के मुक़ाबले कम रहा। यही कारण है कि आज भारत का पूँजीपति वर्ग भारतीय अर्थव्यवस्था के संकट के दौर में भी 7 से 9 प्रतिशत के बीच की दर से तरक्क़ी करने पर जश्न मना रहा है। इस तरक्क़ी का अर्थ है भारत के उच्च मध्यवर्गों के लिए ऐयाशी के सारे साधनों का आसान ऋण पर उपलब्ध होना, तमाम क़िस्म की उपभोक्ता सामग्रियों से बाज़ार का पट जाना, जमकर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश होना, वित्तीय पूँजी के बूते पर रियल एस्टेट में तेज़ी, शेयर मार्केट का सट्टेबाज़ी और जुएबाज़ी के बूते उछाल! भारत का यह खाया-पिया-अघाया 15 फ़ीसद अमीर वर्ग ऐयाशियों की सारी इन्तहाँ पार कर रहा है और अपने वर्ग अहंकार और पैसे की नुमाइश करने के मामले में प्राचीन रोम के पतित ऐयाशों को भी मात कर रहा है। और भारतीय अर्थव्यवस्था की इस वृद्धि दर का ग़रीबों और आम मेहनतकश आबादी के लिए क्या अर्थ है? इस देश की समस्त भौतिक सम्पदा को अपने हाथों से गढ़ने वाले मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों के लिए इस तरक्क़ी का अर्थ है बेतहाशा महँगाई, बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं से वंचित होना, शिक्षा से वंचित होना, बेरोज़गारी, सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा, कुपोषण और बेघरी! ज़ाहिर है, यह तरक्क़ी सिर्फ़ ऊपर के 15 फ़ीसदी धनिकों के लिए है। इस पूरे दशक के दौरान भी जब अर्थव्यवस्था हिचकोले खा रही थी, यह धनिक वर्ग अपनी ऐयाशी और जश्न में डूबा हुआ था। उनकी ही नुमान्दगी करने वाली तमाम सरकारों ने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि विश्व अर्थव्यवस्था से आने वाले और देशी अर्थव्यवस्था में अतिउत्पादन के संकट से आने वाले झटकों का 1 ग्राम बोझ भी इन नवधनाढ्यों के ऊपर नहीं पड़ना चाहिए। इस संकट का पूरा बोझ उठाया इस देश के मज़दूरों और ग़रीब किसानों ने – महँगाई, छँटनी-तालाबन्दी, बेरोज़गारी, भुखमरी और कुपोषण के रूप में। नतीजतन, सरकारी अर्जुन सेनगुप्ता समिति की रिपोर्ट के अनुसार देश की 77 प्रतिशत आबादी आज 20 रुपये प्रतिदिन या उससे कम की आय पर जीती है और देश में करोड़ों की तादाद में खेतिहर मज़दूर और असंगठित औद्योगिक मज़दूर भयंकर सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा में जीवन व्यतीत करते हैं। भूमण्डलीकरण की नवउदारवादी आर्थिक नीतियों ने जिस विकास को जन्म दिया है वह एक रोज़गारविहीन विकास है जिसका कोई भी लाभ देश की आम मेहनतकश आबादी को नहीं मिला है और न ही मिलेगा। इन नीतियों से होने वाले विकास का फ़ायदा इस देश के ऊपर के 20 फ़ीसदी लोगों को ही मिला है।

लेकिन साथ ही यह भी सच है कि आज भारतीय अर्थव्यवस्था की ऊँची तरक्क़ी दर भी उसी तरह के वित्तीय पूँजी के बुलबुले पर आधारित है जिस प्रकार के वित्तीय पूँजी के बुलबुले पर अमेरिकी अर्थव्यवस्था इस दशक की शुरुआत में कुलाँचे भर रही थी। और निश्चित रूप से भूमण्डलीकरण की दौड़ में देरी से शामिल हुए चीन और भारत जैसे देशों में यह बुलबुला भी विनाशकारी तौर पर थोड़ी देर से फटेगा। यह आज नहीं तो कल होना ही है। वित्तीय पूँजी के जुएघर के बूते होने वाले हर विकास का यही हश्र होता है। इस गति की दिशा उसी तरफ़ है और आने वाले समय में पहले से दीर्घकालिक बेरोज़गारी और ग़रीबी का सामना कर रहे इन देशों में जब संकट अपने विकराल रूपों में आयेगा तो सामाजिक विस्फोटों को रोक पाना पूँजीवादी तन्त्र के लिए सम्भव नहीं होगा।

मज़दूर आन्दोलन में छाया सन्नाटा टूट रहा है!

वास्तव में, छिटपुट तौर पर देश के तमाम हिस्सों में मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी सड़कों पर उतर भी रही है। बीते दशक को मज़दूर संघर्षों की बढ़ती बारम्बारता के लिए भी याद किया जायेगा। नयी सहस्राब्दी शुरू होने के साथ ही देशभर में मज़दूर संघर्षों में वृद्धि हुई है। पंजाब, दिल्ली और उत्तर प्रदेश से लेकर पश्चिम बंगाल और उड़ीसा तक और महाराष्ट्र से लेकर दक्षिण भारत के प्रदेशों में मज़दूर स्वत:स्फूर्त ढंग से बार-बार सड़कों पर उतरे। एटक, एक्टू और सीटू जैसी संशोधनवादी ट्रेड यूनियनों को इन संघर्षों के दबाव में आना पड़ा (क्योंकि वे नहीं आते तो वे भी बेनकाब होते और इन संघर्षों के अधिक रैडिकल रूप धारण कर लेने का ख़तरा भी रहता), हालाँकि निरपवाद रूप से हर जगह इन्होंने इन संघर्षों के साथ ग़द्दारी की और मज़दूर वर्ग को धोखे से पराजित करने में मालिकों की पूरी मदद की। लेकिन इस कटु सत्य के बावजूद यह तथ्य उम्मीद जगाने वाला है कि स्वत:स्फूर्त मज़दूर संघर्षों में वृद्धि हुई है और 1980 के दशक के मध्य से जो सन्नाटा छाया हुआ था वह इस दशक में एक हद तक टूटना शुरू हुआ है। लेकिन इससे कोई आधारहीन आशावाद नहीं पैदा होना चाहिए। ऐसे स्वत:स्फूर्त संघर्ष अपने आपमें समस्याओं का कोई स्थायी समाधान नहीं कर सकते हैं। पूँजीवाद के इतिहास में बार-बार ऐसे दौर आये हैं जिनमें मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी बेरोज़गारी और ग़रीबी से तंग आकर सड़कों पर उतरी है। हर बार इन संघर्षों ने किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन को जन्म नहीं दिया है। आज ये स्वत:स्फूर्त क्रान्तिकारी दिशा में जा सकें, इसके लिए कई पूर्वशर्तों के पूरा होने की आवश्यकता है। और इन पूर्वशर्तों को पूरा करने में कई चुनौतियाँ हमारे सामने खड़ी हैं। इन चुनौतियों पर विचार करना आज का एक तात्कालिक प्रश्न है। मज़दूर वर्ग का आन्दोलन स्वत:स्फूर्त संघर्षों की बढ़ती बारम्बारता और पूँजीवाद से बढ़ते आम मोहभंग के बावजूद किन संकटों का शिकार है? वे कौन-सी चुनौतियाँ हैं जिनका सामना आज उसे करना है?

आज पूँजीवाद के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के दौर में यूरोप और अमेरिका में भी पूँजीवादी सरकारें के सामने अभूतपूर्व स्थिति उपस्थित हो रही है। फ़्रांस और ब्रिटेन तक में सरकारों को अपने ख़र्च में कटौती करनी पड़ रही है (इसका अर्थ हमेशा जनता के शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन और रोज़गार पर होने वाले ख़र्च में कटौती से होता है) और इसके विरोध में छात्र से लेकर आम मेहनतकश आबादी सड़कों पर उतर रही है। लेकिन इन संघर्षों के बारे में बहुत प्रफुल्लित और आशान्वित होना अदूरदर्शी होने की निशानी है। तमाम संशोधनवादी और कठमुल्लावादी वामपन्थी पत्र-पत्रिकाएँ उन्नत पूँजीवादी देशों में संकट के दौर में हो रहे जनसंघर्षों की सम्भावनाओं को काफ़ी बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर रही हैं। वास्तव में, वे ख़ुद अपनी निराशा को दूर करने में ज़्यादा दिलचस्पी रखती हैं। जिन देशों में क्रान्तिकारी परिस्थिति निर्मित होने की सम्भावना वाक़ई मौजूद है, वहाँ पर सारे संशोधनवादी अपने राजनीतिक चातुर्य से पूँजीवाद की उम्र बढ़ाने में लगे हुए हैं और कठमुल्लावादी वामपन्थी बदली हुई परिस्थितियों के बारे में सोचने की बजाय अतीत में हुई क्रान्तियों की हूबहू नक़ल कर देने पर आमादा हैं और विशालकाय मज़दूर वर्ग तक उनकी पहुँच बेहद सीमित और ग़ैर-राजनीतिक है। ऐसे में, अपने देश के भीतर तो इन्हें उम्मीद की किरण नज़र आती नहीं है, इसलिए वे फ़्रांस और ब्रिटेन के छात्र व मज़दूर आन्दोलनों को इतना बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं, कि मानो वहाँ क्रान्ति दरवाज़े पर दस्तक दे रही हो। हमारा मानना है कि लेनिन की यह बात आज भी सच है कि साम्राज्यवाद के दौर में (और साम्राज्यवाद के भूमण्डलीकरण के इस चरण में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है) क्रान्तियों का झंझाकेन्द्र यूरोप और अमेरिका से स्थानान्तरित होकर एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में पहुँच गया है। आज भी ये ही देश विश्व पूँजीवादी कमज़ोर कड़ी हैं। ब्रिटेन और फ़्रांस जैसे उन्नत पूँजीवादी देशों की पूँजीवादी व्यवस्था के पास साम्राज्यवाद के ज़रिये प्राप्त अकूत अधिशेष के बूते ऐसे कई आन्दोलनों के झटकों को सोख लेने की ताक़त है। जब तक इन कमज़ोर कड़ियों में साम्राज्यवादी अधिशेष नियोजन के तन्त्र का ध्वस्त नहीं किया जाता, इन देशों में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तनकारी आन्दोलन के खड़ा हो जाने और मुक़ाम तक पहुँच जाने की उम्मीद करना बेकार है। इसलिए इन देशों में मज़दूर आन्दोलन की चुनौतियों को हल करने, क्रान्तिकारी विचारधारा की सही समझ स्थापित करने, क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़ा करने और एक क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण के सवाल पर चर्चा ही सबसे अहम और प्रासंगिक है। निश्चित तौर पर, अमेरिका, ब्रिटेन और फ़्रांस जैसे देशों में पूँजीवादी सरकार द्वारा लागू की जा रहीं मज़दूर-विरोधी और छात्र-विरोधी नीतियों के विरुद्ध जुझारू संघर्ष को हम सलाम करते हैं और उनसे सीखते भी हैं। लेकिन उनसे वे उम्मीदें नहीं की जानी चाहिए जिन्हें वे पूरा नहीं कर सकते।

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के समापन पर भारत के मज़दूर आन्दोलन के समक्ष मौजूद चुनौतियाँ

भारत भी आज उन देशों की क़तार में खड़ा है जहाँ से विश्व पूँजीवाद की कमज़ोर कड़ी के टूटने की उम्मीद की जा सकती है। मेक्सिको, ब्राज़ील, चिले, दक्षिण अफ़्रीका, टर्की, मिस्र, इण्डोनेशिया, आदि देश जहाँ विचारणीय पूँजीवादी विकास हुआ है, विशालकाय मज़दूर वर्ग है, वैविध्यीकृत अर्थव्यवस्था है, वहीं पर सर्वहारा क्रान्तियाँ सम्भावित भी हैं और आज के दौर में ऐसे देशों में ही वे टिक भी सकती हैं। भारत को हम इन देशों की क़तार में अग्रिम देशों में से एक मानते हैं। भारत में भी पूरा मज़दूर आन्दोलन आज कई संकटों से जूझ रहा है।

भारत में जो समस्याएँ मज़दूर आन्दोलन के रास्ते में बाधा बनकर खड़ी हैं, वे ऐतिहासिक हैं और लम्बे समय से मौजूद हैं। जो सबसे बड़ी समस्या आज समाधान की माँग कर रही है वह है सही विचारधारात्मक और कार्यक्रमगत समझ वाले कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नेतृत्व का अभाव। नक्सलबाड़ी आन्दोलन के "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के विचलन का शिकार होने के बाद बीते लगभग चार दशक पूरे क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शिविर के विघटन और बिखराव का दौर रहा है। कम्युनिस्ट आन्दोलन में कोई एकता स्थापित होने की बजाय लगातार टूटने-बिखरने की प्रक्रिया जारी रही है और अभी भी जारी है। भाकपा (माओवादी) पूरी तरह दुस्साहसवादी लाइन को लागू कर रही है। भारत के विशाल मज़दूर वर्ग के बीच उसकी पहुँच नहीं के बराबर है और जहाँ है भी वहाँ भी उसके पास मज़दूर वर्ग के बीच काम करने की कोई सही समझ मौजूद नहीं है। अगर संशोधनवादी माकपा की यूनियन सीटू उनके बीच समझौतापरस्त अर्थवाद करती है, तो ये उनके बीच जुझारू और लड़ाकू अर्थवाद करते हैं। लेकिन दोनों करते अर्थवाद ही हैं – यानी, मज़दूरों को उनके ऐतिहासिक लक्ष्य समाजवाद के लिए लड़ने के लिए सचेत बनाने, उनके बीच राजनीतिक प्रचार करने, उनके बीच कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों का प्राधिकार स्थापित करने की बजाय उनकी पूरी चेतना को दुअन्नी-चवन्नी की लड़ाइयों तक सीमित कर देना। सभी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठनों की स्थिति मज़दूर वर्ग के बीच काम करने की समझ के मामले में कमोबेश यही है। आज वे पूँजीवाद के विरुद्ध इस देश के क़रीब 60 करोड़ औद्योगिक और खेतिहर मज़दूरों को समाजवाद के लिए संघर्ष के लिए संगठित करने की बजाय, कहीं धनी किसानों की लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं तो कहीं उन्हें लगता है कि पूँजीवादी सत्ता के बर्बर अत्याचार और पूँजी के मुनाफ़े की ख़ातिर किये जा रहे दमन-उत्पीड़न का शिकार इस देश की सबसे पिछड़ी, ग़रीब, उत्पीड़ित और दमित आदिवासी आबादी के प्रतिरोध-युद्ध के ज़रिये ही वे इस देश में नवजनवादी क्रान्ति तक पहुँच जायेंगे। यह क़तई सम्भव नहीं है। इस देश की विशाल सर्वहारा आबादी को संशोधनवादी और फ़ासीवादी यूनियनों के भरोसे छोड़कर छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र आदि के आदिवासी क्षेत्रों में 'रेड कॉरीडोर' बनाने से इस देश की पूँजीवादी सत्ता की सेहत पर दूरगामी तौर पर बहुत ज़्यादा असर नहीं पड़ने वाला है। आदिवासी आबादी के अपनी आजीविका के लिए इस संघर्ष को भी देश के क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन का एक अंग बनाकर ही उसे मुक़ाम तक पहुँचाया जा सकता है।

लेकिन मज़दूर वर्ग में काम की सही समझ का आज के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट नेतृत्व में अभाव कोई अजूबे की बात नहीं है। भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का उनका मूल्यांकन और नवजनवादी क्रान्ति की उनकी ग़लत समझ उन्हें मज़दूर वर्ग में काम की सही दृष्टि को अपनाने नहीं दे रही। आज देश के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व के बड़े हिस्से की समस्या यह है कि वह कठमुल्लावादी, अतीतग्रस्त और अवसरवादी हो चुका है। नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम उसके लिए एक गाँठ बन चुका है। भारत आज भी उसे एक अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक देश दिखलायी देता है और भारत का पूँजीपति वर्ग उसे अमेरिका का दलाल मालूम पड़ता है। उसे लगता है कि आज भी दुनिया वहीं खड़ी है जहाँ 1963 में खड़ी थी, जब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने विश्वभर में सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल के बारे में आम कार्यदिशा देते हुए नवस्वाधीन या औपनिवेशिक देशों में दीर्घकालिक लोकयुद्ध के रास्ते नवजनवादी क्रान्ति होने की बात कही थी। सच्चाई यह है कि उस समय भी 'तीसरी दुनिया' के सभी देशों में नवजनवादी क्रान्ति होना सम्भव नहीं था। और आज तो यह सोचना आश्चर्यजनक होगा कि भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक है। भारत में आज एक विशाल सर्वहारा वर्ग मौजूद है जो कुल आबादी का क़रीब 50 फ़ीसदी है। अगर इसमें सर्वहाराकरण की क़गार पर खड़े ग़रीब किसानों की विशाल आबादी को जोड़ दिया जाये तो सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा आबादी की तादाद आबादी के क़रीब 75 फ़ीसदी तक पहुँच जाती है। खेती में पूँजी की दख़ल एक-एक पोर तक हो चुकी है। लगान का चरित्र खेती में कहीं भी सामन्ती नहीं है। सामन्ती भूस्वामियों का वर्ग अनुपस्थित है। किसान सीधे राज्य को लगान देते हैं। खेती में उत्पादन बाज़ार के लिए हो रहा है। औद्योगिक विकास और शहरीकरण पिछले तीन दशकों में अभूतपूर्व रफ़्तार से हुआ है। एक विशालकाय और गतिमान औद्योगिक सर्वहारा वर्ग आज भारत में मौजूद है। भारत का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का दलाल नहीं बल्कि छोटे साझेदार की

(पेज 9 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 5 से आगे)

जनता के साथ धोखा-विश्वासघात करता रहा था। दूसरी बात, इतिहास का रंगमंच भी बदल चुका था। बीसवीं शताब्दी क्लासिकी पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों का समय नहीं था। यह साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों का युग था, जब कोई रैडिकल बुर्जुआ वर्ग भी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को झटके से, अंजाम तक पहुँचाने का काम नहीं कर सकता था। समझौते से राजनीतिक आज़ादी हासिल करके, ऊपर से सत्तासीन हो जाने वाले भारतीय पूँजीपति वर्ग ने, नीचे से, जनपहलक़दमी पर आधारित रास्ते से नहीं, बल्कि ऊपर से, धीरे-धीरे क़ानून बनाकर, भूमि-सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादीकरण की राह पकड़ी। यह "प्रशियाई मार्ग" "स्तालिपिन टाइप भूमि-सुधारों" का ही एक भारतीय संस्करण था। परिवर्तन के इस रास्ते को अपनाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने सभी राजाओं-नवाबों-ज़ागीदारों-ज़मींदारों को बाध्य किया और इसका पूरा मौक़ा दिया कि वे पूँजीवादी उद्यमों-होटलों-व्यवसायों में पूँजी लगाकर शहरी-पूँजीपति बन जायें या पूँजीवादी भूस्वामी बन जायें (या एक साथ दोनों बन जायें)। पुराने शोषकों को आधुनिक बुर्जुआ शोषक बनने का पूरा अवसर दिये जाने की नीति अपनायी गयी। साथ ही, इस नीति के परिणामस्वरूप, कालान्तर में, खुशहाल रैयतों-काश्तकारों के बीच से (मालिक किसान बनने के बाद) कुलकों-फ़ॉर्मरों का एक नया वर्ग विकसित हुआ जो उजरती श्रम का शोषण करता था, मुनाफ़े के लिए पैदा करता था और गाँवों में पूँजीवादी व्यवस्था का प्रमुख सामाजिक अवलम्ब था। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने गाँवों में प्राक् पूँजीवादी संरचना, मध्ययुगीन भूदासता के अवशेषों और सामन्ती मूल्यों-संस्थाओं को क़ायम रखते हुए उन्हें क्रमशः पूँजी के अधीन करते जाने और मन्थर गति से क्षरित-विघटित होने के लिए छोड़ देने की नीति अपनायी। इस प्रक्रिया में भारतीय सामाजिक जीवन में जो पूँजीवाद विकसित हुआ, उसमें जनवादी मूल्य अति सीमित-संकुचित थे। यह पूँजीवाद जन्मना रुग्ण, कुत्सित, विकलांग, बौना पूँजीवाद था।

आज़ादी के बाद, देशी राजों-रजवाड़ों की समस्या एक प्रमुख समस्या थी, जिनका देश के एक-तिहाई भूभाग पर शासन था। भारतीय पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने निर्णायक ढंग से इस समस्या को हल किया। 1947 से 1949 के बीच 601 में से 555 रियासतों का भारत में विलय हो गया और शेष पाकिस्तान का अंग बन गयीं। उल्लेखनीय है कि हैदाराबाद, त्रावणकोर, जूनागढ़ आदि कई रियासतों के विलय में जनसंघर्षों के दबाव की भी अहम भूमिका थी। दूसरे, ब्रिटिश साम्राज्यवादी भी यह भली-भाँति समझते थे कि बदलती दुनिया में इन राजे-रजवाड़ों का कोई स्वतन्त्र भविष्य नहीं है। अतः इन्हें संरक्षण देना छोड़कर उन्होंने भी भारतीय पूँजीपति वर्ग के साथ अपने रिश्तों को ही ज़्यादा महत्त्व दिया। लेकिन इन पूर्व सामन्ती शासकों को भरपूर रियायतें दी गयीं।राजाओं-नवाबों ने पारिवारिक ट्रस्ट बनाकर अपने महलों और बेशुमार भूसम्पत्ति को बचाये रखा। बाद में महलों में पाँच सितारा होटल खुल गये और उद्योगों में सामन्ती शासकों ने शेयर ख़रीद लिये। यही नहीं, जनता की गाढ़ी कमाई से उन्हें पेंशन की मोटी रक़में दी गयीं (जो 1970 तक दी जाती रहीं)। कई भूतपूर्व राजा गवर्नर और राजदूत बना दिये गये। आगे चलकर, ज़्यादातर राजघरानों के लोग अलग-अलग बुर्जुआ पार्टियों के नेता बन गये।

रियासतों के अतिरिक्त, जो ब्रिटिश भारत के ज़मींदार और जागीरदार थे, वे उपनिवेशवाद के मुख्य सामाजिक अवलम्ब और घोर प्रतिक्रियावादी थे। कांग्रेस ने अपने 1946 चुनाव घोषणापत्र में ही राज्य और ज़मीन जोतने वालों के बीच मौजूद "बिचौलियों" के उन्मूलन की घोषणा की थी। 1947 से 1954 के बीच सभी राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा भूमि-सुधार विधेयक (ज़मींदारी उन्मूलन क़ानून) पास किये गये। पर इन क़ानूनों ने देश के उस 57 प्रतिशत भूभाग के भूस्वामित्व को प्रभावित नहीं किया, जहाँ रैयतवारी प्रणाली थी। ज़मींदारी प्रथावाले क्षेत्रों में भी ज़मींदारों की ज़मीन का एक अंश ही काश्तकारों को हस्तान्तरित हो सका। सीर व खुदकाश्त ज़मीनें ज़मींदारों के ही पास रहीं। उनके गृहफार्मों, मवेशियों व किसानों के शोषण से अर्जित अन्य सम्पत्तियों को भी उन्हीं के पास रहने दिया गया। यही नहीं, ज़मींदारों को कुल 700 करोड़ रुपये का मुआवज़ा दिया गया, जो काश्तकारों द्वारा राज्य को दिये जाने वाले लगान से अदा किया जाता था। 1947 के बाद छह वर्षों तक सामन्ती भूस्वामित्व के रूपान्तरण की यह प्रक्रिया चलती रही। जोत के अधिकतम आकार के प्रश्न पर 1953 के बाद ही विचार शुरू हुआ। आगे चलकर हदबन्दी, चकबन्दी आदि भूमिसुधार के कई क़दम उठाये गये, लेकिन तब भी ज़्यादातर भूस्वामियों ने तरह-तरह का क़ानूनी फ़र्जीवाड़ा करके ज़्यादातर ज़मीनें अपने पास बनाये रखीं। 60' के दशक के उत्तरार्द्ध से कृषि और कृषि आधारित व सम्बद्ध सेक्टरों में बड़े पैमाने पर पूँजी-निवेश और नयी तकनोलॉजी-उन्नत बीज-रासायनिक उर्वरक आधारित खेती ने तेज़ गति पकड़ी। साथ ही, ध्रुवीकरण, किसान आबादी के विभेदीकरण और नीचे के किसानों के सर्वहाराकरण की प्रक्रिया भी तेज़ हो गयी। लेकिन यह आगे की कहानी है। इस प्रक्रिया की ज़मीन 1947-50 के संक्रमण काल के दौरान ही पूँजीवादी-विकास के नीति-निर्धारण और शुरुआती कार्रवाइयों के ज़रिये तैयार हुई थी। 1947 में परती ज़मीनों को कृषि-योग्य बनाने के लिए राजकीय ट्रैक्टर संगठन क़ायम किया गया। जूट और कपास की खेती के क्षेत्र में 1947-50 के दौरान क्रमशः 70 और 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पूर्व देशी रियासतों में कृषि क्षेत्र की पैमाइश और बन्दोबस्त के साथ ही रैयतवारी जैसी भूराजस्व प्रणाली लागू की गयी।

1947-50 के संक्रमण काल के दौरान, जब नया संविधान तैयार किया जा रहा था, भारतीय पूँजीपति वर्ग राज्यतन्त्र के केन्द्रीकृत ढाँचे के पुनर्गठन और सुदृढ़ीकरण में लगा हुआ था तथा पूँजीवादी विकास की आम नीतियाँ तय की जा रही थीं; उस समय एक अहम सवाल था कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (यह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, ब्रिटेन, उसके उपनिवेशों और पूर्वउपनिवेशों का समूह था) के साथ भारतीय डोमीनियन का रिश्ता क्या हो? ब्रिटिश मण्डी पर उस समय तक भारतीय उद्योगों की जो निर्भरता थी, उसके चलते भारतीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रमण्डल के भीतर रहना अपने लिए हितकारी मानता था। दूसरी ओर, उसके राजनीतिक प्रतिनिधि भारत को राष्ट्रमण्डल के भीतर ऐसी शर्तों पर रखने के किसी रास्ते की खोज में थे कि जो भारत की सम्प्रभुता के लिए हानिकर न हो। अक्टूबर, 1948 में लन्दन में राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन में यह तय हुआ कि नये डोमीनियम – भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका – ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने के साथ-साथ ब्रिटिश ताज से अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता बनाये रख सकते हैं। अप्रैल, 1949 के राष्ट्रमण्डल सम्मेलन में एक फ़ार्मूला तैयार किया गया जिसके अनुसार, भारत ने सम्प्रभु गणतन्त्र बने रहने के साथ-साथ राष्ट्रमण्डल के प्रतीक के रूप में ब्रिटिश ताज को स्वीकार किया। ग़ौरतलब है कि भारतीय संविधान में राष्ट्रमण्डल के साथ भारत के सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं है।

अब संक्रमण-काल विषयक इस चर्चा को समेटते हुए निचोड़ के तौर पर कुछ बातें कर ली जायें।

भारत के पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए 1947 में जब राजनीतिक सत्ता हासिल की तो उसने साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद नहीं किया। जनाकांक्षाओं के साथ विश्वासघात करते हुए उसने ब्रिटिश पूँजी के हितों को चोट नहीं पहुँचायी और अन्य साम्राज्यवादी देशों को भी लूट के अवसर प्रदान किये। बेशक ऐसा करते हुए उसने अपने हितों को प्राथमिकता दी, साम्राज्यवादियों के अन्तरविरोधों का लाभ उठाया, उनसे भरपूर सौदेबाज़ी की और समय-समय पर उनके दबाव व चाहतों के विपरीत भी आचरण किया, पर कुल मिलाकर, विश्व पूँजीवादी तन्त्र में वह साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार ही बना रहा। देश की जनता देशी पूँजी की लूट के साथ साम्राज्यवादी लूट का भी शिकार बनी रही। भारत किसी साम्राज्यवादी देश का नवउपनिवेश तो नहीं बना, लेकिन साम्राज्यवादी शोषण क़ायम रहा। इस तरह साम्राज्यवाद विरोध का राष्ट्रीय कार्यभार आधे-अधूरे तरीक़े से ही पूरा हुआ। दूसरी ओर, सामन्ती भूमि सम्बन्धों के पूँजीवादीकरण के जनवादी कार्यभार को भी भारतीय पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता ने क्रान्तिकारी ढंग से नहीं बल्कि ग़ैर-क्रान्तिकारी, क्रमिक सुधारवादी तरीक़े से और कई किस्तों में पूरा किया (लगभग आधी सदी तक सामन्ती अवशेषों की प्रबल मौजूदगी बनी रही और क्षीण रूप में अभी भी बनी हुई है)।

जिस पूँजीपति वर्ग ने न तो साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद का राष्ट्रीय कार्यभार पूरा किया हो, न ही भूमि सुधार के जनवादी कार्यभार को क्रान्तिकारी ढंग से पूरा किया हो, उस पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता देश की जनता को लाजिमी तौर पर अतिसीमित जनवादी अधिकार ही दे सकती थी। यूँ तो विकसित से विकसित पूँजीवादी देश में भी पूँजीवादी जनवाद निरपेक्ष और सम्पूर्ण नहीं होता, सारतः वह पूँजीपति वर्ग का अधिनायकत्व ही होता है। संकट और वर्ग संघर्ष के तूफ़ान के दिनों में उन्नत पूँजीवादी जनवादी देशों का शासक वर्ग भी जनता के बर्बर-निरंकुश दमन के लिए तैयार रहता है। लेकिन सामान्य तौर पर ऐसे देशों की जनता को दैनन्दिन सामाजिक-राजनीतिक जीवन में जो जनवादी अधिकार हासिल होते हैं, भारत की जनता को उतने भी हासिल नहीं हैं। समाज के मुखर तबक़े (पढ़े-लिखे मध्यवर्ग) को क़ानूनी व संवैधानिक तौर पर हासिल जनवादी अधिकारों का कुछ लाभ यदि मिल भी जाता है तो बहुसंख्यक मेहनतकश जनसमुदाय के लिए उसका कोई मतलब नहीं है। संविधान में मूलभूत अधिकारों की लफ़्फ़ाज़ी अधिक की गयी और उनके अमल की कोई गारण्टी नहीं दी गयी है। और संविधान प्रदत्त नागरिक एवं जनवादी अधिकारों को शासक वर्ग द्वारा संकट की घड़ी में हड़प लिये जाने के प्रावधान भी संविधान के भीतर ही मौजूद हैं। 1975 में आपातकाल संविधान के भीतर मौजूद प्रावधान के तहत ही लगा था और 42वाँ संविधान संशोधन संविधान-सम्मत ढंग से ही लागू किया गया था। ग़ौरतलब यह भी है कि संविधान से जो सीमित जनवादी अधिकार रिस-छनकर नीचे आते हैं, इन्हें वह क़ानून व्यवस्था रोक लेती है, जिसका मूल स्वरूप (थोड़े-बहुत बदलावों के बावजूद) वही है, जो औपनिवेशिक काल में था। संवैधानिक उपचार (रेमेडी) आम जनता तक नहीं पहुँचते, उसका वास्ता क़ानूनी उपचार से ही पड़ता है। क़ानूनी तौर पर जनता को यदि कहीं कुछ हासिल भी होना रहता है तो उसे यह भ्रष्ट-निरंकुश नौकरशाही ढाँचा रोक लेता है, जो काफ़ी हद तक (ज़रूरी आधुनिकीकरण के बावजूद) औपनिवेशिक काल की ही विरासत है।

भारतीय पूँजीवादी समाज 'पुनर्जागरण-प्रबोधन क्रान्ति' की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुआ है। यह औपनिवेशिक संरचना के गर्भ से पैदा हुआ है तथा साम्राज्यवाद के युग में पला-बढ़ा, विकसित हुआ है। इसलिए न तो हमारे सामाजिक ताने-बाने में जनवादी मूल्य मौजूद हैं, न ही हमारे पिछड़े समाज में जनवादी अधिकारों के प्रति पर्याप्त सजगता मौजूद है। तमाम मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं की मौजूदगी भी निरंकुश उपभोक्ता संस्कृति के साथ-साथ मौजूद है। इन कारणों से भी, संविधान की मोटी किताब में "पवित्र" जनवाद के बारे में जो भी ऊँची-ऊँची बातें की गयी हैं, उनका अमल में कोई मतलब नहीं रह जाता। शासन-विधान और राज्यतन्त्र के घटकों के बीच कार्य-विभाजन के मामले में तो संविधान का महत्त्व है, लेकिन उसमें वर्णित जनता के जनवादी अधिकार की बातें इस वजह से भी बेमानी हो जाती हैं कि वे वास्तविक सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित नहीं करतीं। उसमें लम्बी-चौड़ी जुमलेबाज़ी तो दुनिया के बहुतेरे पूँजीवादी देशों के संविधानों की नक़ल कर ली गयी है, जबकि उसका मूल ढाँचा 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट 1935' के आधार पर खड़ा किया गया है।

संविधान की यह स्थिति भारत के पूँजीपति वर्ग की स्थिति के सर्वथा अनुरूप है और उसी को प्रतिबिम्बित करती है। 1947-50 के संक्रमण काल के दौरान जब भारतीय पूँजीपति वर्ग पूँजीवादी विकास की आम दिशा और नीतियाँ तय कर रहा था, और अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण कर रहा था तथा संविधान का निर्माण कर रहा था, उसी समय यह तय हो चुका था कि भारतीय लोकतन्त्र कैसा होगा और भारतीय संविधान किनकी सेवा करेगा!

हर तरह का पूँजीवादी जनवाद, अन्तर्वस्तु की दृष्टि से पूँजीवादी अधिनायकत्व होता है। कोई पूँजीवादी जनवाद अपनी अन्तर्वस्तु पर जनवाद का ज़्यादा मुलम्मा लगाता है तो कोई कम। भारतीय संविधान पर जनवाद का मुलम्मा बहुत कम है। यह भारतीय पूँजीपति वर्ग की स्थिति और शक्ति की ही अभिव्यक्ति और प्रतिबिम्बन है।

भारतीय संविधान एक पूँजीवादी संविधान है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की वर्तमान व्यवस्था की इंच-इंच हिफ़ाज़त करने की क़समें खाता है, ज़मीन और पूँजी को उत्पादन और शोषण के साधन के रूप में स्वीकार करता है, शोषकों को शोषण की पूरी गारण्टी देता है और उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है, लेकिन दूसरी ओर मेहनतकशों को काम करने के हक़ की, रोटी तक की गारण्टी नहीं देता। भारतीय पूँजीपति वर्ग के सिद्धान्तकारों ने पूँजीवादी शोषण को न्यायसंगत व स्वाभाविक ठहराने के लिए तथा भारतीय समाज की समूची सम्पदा पर पूँजीपति वर्ग का नियन्त्रण बनाये रखने के लिए दार्शनिक-राजनीतिक-विधिशास्त्रीय आधार के रूप में, पूँजीवादी राज और समाज की आचार-संहिता के रूप में इस संविधान की रचना की है। यह संविधान भारतीय पूँजीपति वर्ग की आर्थिक और राजनीतिक क्षमता की, उस समय की राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति की तथा साम्राज्यवाद के युग की स्पष्ट और मुखर अभिव्यक्ति है।

●

(अगले अंक में :
कैसे तैयार हुआ भारतीय संविधान?)

कवि शमशेर बहादुर सिंह की जन्मशती पर उनकी एक प्रसिद्ध कविता

(ग्वालियर में लाल झण्डे पर रोटियाँ टाँगकर जब मज़दूरों ने जुलूस निकाला था तो ग्वालियर रियासत सरकार ने उन पर गोलियाँ चलवायी थीं। 12 जनवरी, 1944 की उसी घटना का एक शब्दचित्र प्रस्तुत करती है यह कविता।)

य' शाम है
य' शाम है
कि आसमान खेत है पके हुए अनाज का
लपक उठीं लहू-भरी दराँतियाँ
– कि आग है :

धुआँ-धुआँ
सुलग रहा
गवालियार के मजूर का हृदय

कराहती धरा
कि हाय-मय विषाक्त वायु
धूम तिक्त आज
रिक्त आज
सोखती हृदय
गवालियार के मजूर का।

ग़रीब के हृदय
टँगे हुए
कि रोटियाँ लिये हुए निशान
लाल-लाल

जा रहे
कि चल रहा
लहू-भरे गवालियार के बजार में जलूस :
जल रहा
धुआँ-धुआँ
गवालियार के मजूर का हृदय।

पूँजी के इशारों पर नाचती पूँजीवादी न्याय व्यवस्था

(पेज 1 से आगे)

साबित करता है। लेकिन छत्तीसगढ़ सत्र न्यायालय के मजिस्ट्रेट ने इस वीडियो को बचाव पक्ष के वकीलों को दिखलाने से इंकार कर दिया। स्पष्ट है, न्यायालय सबूत देखने से पहले ही फ़ैसला तय कर चुका था। क्योंकि सबूत ऐसे नहीं हैं कि देशद्रोह के आरोप में सेन को आजीवन कारावास की सज़ा सुनायी जाये। देशद्रोह की यह धारा ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं को और जनता के प्रतिरोध को दबाने के लिए बनायी थी और जब इसे बाल गंगाधर तिलक पर 1897 में और महात्मा गाँधी पर 1922 में लगाया गया था तो उन्हें महज़ छह वर्ष की सज़ा सुनायी गयी थी। लेकिन विनायक सेन को आजीवन कारावास की सज़ा दी गयी है। साफ़ ज़ाहिर है कि विनायक सेन को छत्तीसगढ़ में सरकारी सशस्त्र बलों और सलवा जुडूम के अत्याचारों का पर्दाफ़ाश करने और सलवा जुडूम से सरकार के रिश्तों का भण्डाफोड़ करने की सज़ा दी जा रही है।

क़ानून के जानकार तमाम वकीलों और पूर्व न्यायाधीशों ने माना है कि इस फ़ैसले के आधार के तौर पर जिन सबूतों को माना गया है, उन्हें सबूत कहा ही नहीं जा सकता है। दूसरी बात यह कि अगर वे सबूत होते भी तो भी इन आरोपों के आधार पर आजीवन कारावास की सज़ा नहीं सुनायी जा सकती है। लेकिन यहाँ साफ़तौर पर न्याय व्यवस्था पूँजी के इशारों पर नाचती नज़र आ रही है। छत्तीसगढ़ में जारी जनसंसाधनों की पूँजीवादी लूट की प्रक्रिया पर जो भी सवाल उठायेगा, जो भी बाधा पैदा करेगा उसे सबक़ सिखाने के लिए छत्तीसगढ़ की रमण सिंह सरकार पूरी तरह प्रतिबद्ध है। अगर वह व्यक्ति कोई आम आदिवासी या मज़दूर है तो उसे दैहिक-दैविक ताप से ही मुक्ति दे दी जायेगी और अगर वह व्यक्ति विनायक सेन जैसा कोई प्रसिद्ध चिकित्सक और मानवाधिकार कार्यकर्ता है तो उसे माओवादी समर्थक बताकर जीवनभर के लिए सलाखों के पीछे धकेल दिया जायेगा। विनायक सेन इस निर्णय के विरुद्ध छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय गये हैं। हो सकता है कि दूरगामी तौर पर भारतीय न्यायपालिका की लाज रखने के लिए छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय या फिर आगे सर्वोच्च न्यायालय इस निर्णय को बदल दे और सज़ा को ख़ारिज़ कर दे या कोई छोटी सज़ा दे। लेकिन तब भी एक बात साबित होती है, भारतीय न्यायपालिका भारत की पूँजीवादी व्यवस्था के दूरगामी हितों को ध्यान में रखकर काम करती है। राज्य स्तर पर न्याय व्यवस्था के भ्रष्टाचार के बारे में तो स्वयं सर्वोच्च न्यायालय ने ही टिप्पणी कर दी है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय किसी निरपेक्ष न्याय की वकालत करता हो, ऐसा नहीं है। भोपाल गैस त्रासदी के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने ही आरोप को हल्का कर एण्डरसन को बचाया था। अलग-अलग मौक़ों पर जहाँ जैसा सम्भव हो, न्यायपालिका पूँजी के पक्ष के खड़े होकर निर्णय लेती है।

इस पूरे मामले ने एक और सवाल को भी उपस्थित किया है। यह सवाल है देशद्रोह के क़ानून का। ज्ञात हो कि यह क़ानून अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय जनता के प्रतिरोध के नंगे दमन के लिए बनाया गया सबसे कुख्यात क़ानून है। यह क़ानून आज़ादी मिलने के बाद भी क़ायम रहा। विडम्बना की बात तो यह है कि स्वयं गाँधी और तिलक को इस क़ानून के तहत दोषी ठहराया गया था। गाँधी ने कहा था कि इस क़ानून ने न्याय को शासकों की रखैल बना दिया है और यह क़ानूनी अन्याय का प्रतीक है। नेहरू ने कहा था कि हमें जितनी जल्दी हो इस क़ानून से छुटकारा पा लेना चाहिए, क्योंकि यह हमारी गुलामी का प्रतीक है। लेकिन आज़ादी के बाद भी इस क़ानून को क़ायम रखा गया। कारण यह था कि आज़ादी के बाद जो पूँजीपति वर्ग सत्ता में आया उसे शुरू से ही इस क़ानून की ज़रूरत इस देश के मज़दूरों और किसानों के आन्दोलन को कुचलने के लिए महसूस हुई। इसलिए उन सारी बातों को सचेतन तौर पर नेपथ्य में धकेल दिया गया जो गाँधी, नेहरू आदि ने इसके बारे में कही थीं। आज एक उदार जनतन्त्र होने का दावा करने वाले पूँजीवादी देश में इसकी मौजूदगी पूँजीवादी जनतन्त्र की प्रकृति को साफ़ करती है। पूँजीवादी जनतन्त्र ऐसा ही हो सकता है और ख़ासतौर पर भारत जैसे बौने, विकलांग और चालाक पूँजीवाद के तहत तो ऐसा क़ानून पूँजीपति वर्ग के लिए बेहद ज़रूरी हो जाता है। और सवाल सिर्फ़ इस क़ानून का नहीं बल्कि समूची भारतीय दण्ड संहिता (आईपीसी) और भारतीय अपराध दण्ड संहिता (सीआरपीसी) की वैधता का है, जिसे बिना किसी परिवर्तन या मामूली परिवर्तनों के साथ अपना लिया गया। और सवाल तो भारतीय संविधान पर ही खड़ा है। ज्ञात हो, कि मौजूदा संविधान को पूरी भारतीय जनता द्वारा चुनी गयी संविधान सभा ने नहीं बनाया था, बल्कि महज़ दस फ़ीसदी राजे-रजवाड़ों, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधियों द्वारा चुना गया था। आज़ादी के बाद नयी संविधान सभा को बुलाने का वायदा नेहरू ने किया था लेकिन वह इससे मुकर गये। नतीजतन, जनवाद के खोखले वायदे करने वाला आज का संविधान स्वयं ग़ैर-जनवादी नींव पर खड़ा है और भारत की पूरी जनता ने इसे कभी मान्यता दी ही नहीं।

ऐसे संविधान और न्याय-व्यवस्था के तहत विनायक सेन को सुनायी गयी सज़ा कोई चौंकाने वाली नहीं है। अब राज्य के दमन की ज़द में जनवादी और नागरिक अधिकारों की बात करने वाले बुद्धिजीवी, वकील, डॉक्टर और कार्यकर्ता भी आयेंगे ही आयेंगे। यह क्रूर पूँजी संचय का एक ऐसा दौर है जिसमें पूँजीवादी व्यवस्था देश के सबसे पिछड़े, ग़रीब और अरक्षित लोगों के जीवन के अधिकार को छीने बग़ैर पूँजी के हितों को साध ही नहीं सकती। नतीजतन, देश में जनवादी स्पेस लगातार सिकुड़ रहा है। और मज़दूरों के लिए तो कमोबेश ऐसी स्थिति लगातार और हमेशा से रही है। विनायक सेन ने भारतीय लोकतन्त्र के असली घिनौने पूँजीवादी चरित्र को पूरी तरह से नंगा कर दिया है। इसका चरित्र मज़दूरों से छिपा हुआ तो कभी नहीं था और वे हर रोज़ सड़क पर इस पूँजीवादी लोकतन्त्र से दो-चार होते हैं।

● अभिनव

कारख़ाना मज़दूर यूनियन, टेक्सटाइल मज़दूर यूनियन और नौजवान भारत सभा के अगुवाई में पंजाब सरकार के दो नये काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ जुलूस निकालते हुए सैकड़ों मज़दूर-नौजवान। काले क़ानूनों के ख़िलाफ़ 20 जनवरी को पंजाब के लगभग 40 जनवादी जनसंगठनों द्वारा सभी ज़िलों में संयुक्त तौर पर बड़े विरोध प्रदर्शन किये गये। पंजाब सरकार काले क़ानून के ज़रिये जनता के लूट, दमन, अन्याय के ख़िलाफ़ संगठित संघर्ष करने के अधिकार छीनने की तैयारी कर रही है!

सीटू की गद्दारी से आई.ई.डी. के मज़दूरों की हड़ताल नाकामयाब

बिगुल संवाददाता

पिछले अंक में हमने इण्टरनेशनल इलेक्ट्रॉन डिवाइसेज़, नोएडा के कारख़ाने में मज़दूरों की स्थिति पर रपट में बताया था कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान मालिकों और प्रबन्धन के कारण वहाँ क़रीब 300 मज़दूर अपने हाथ की उँगलियाँ कटवाकर अपंग हो चुके हैं। इस कारख़ाने में कम्प्यूटर मॉनीटर और टेलीविज़न के पिक्चर ट्यूब समेत कई इलेक्ट्रॉनिक उपकरण बनाने का काम होता है। हमने यह भी बताया था कि किस प्रकार दुर्घटना के शिकार इन मज़दूरों को कम्पनी के मालिकान मशीनमैन से हेल्पर बना देते हैं और उन्हें कोई मुआवज़ा नहीं दिया जाता है। बीती दीपावली के दौरान इस कारख़ाने के मज़दूरों ने हड़ताल की थी और कारख़ाने पर क़ब्ज़ा कर लिया था। सीटू के नेतृत्व ने इस आन्दोलन को अपनी ग़द्दारी के चलते असफल बना दिया था। सीटू के नेतृत्व ने मज़दूरों को मुआवज़े के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित करने की बजाय उनके दिमाग़ में यह बात बिठा दी थी कि मालिक उँगलियाँ कटने के बाद भी काम से निकालने की बजाय हेल्पर बनाकर मज़दूरों पर अहसान करता है। जब मज़दूरों ने दीपावली के दौरान संघर्ष किया तो मालिकों ने छह मज़दूरों के ऊपर क़ानूनी कार्रवाई का नाटक करते हुए उन्हें निलम्बित कर दिया। वास्तव में, इन मज़दूरों पर कोई एफ़.आई.आर. दर्ज नहीं की गयी थी। लेकिन सीटू के नेतृत्व ने इस बारे में मज़दूरों को अँधेरे में रखा और उनको यह बताया कि फ़िलहाल कारख़ाने पर क़ब्ज़ा छोड़ दिया जाये और हड़ताल वापस ले ली जाये, वरना उन मज़दूरों पर क़ानूनी कार्रवाई भी हो सकती है। मज़दूर हड़ताल वापस लेने को तैयार नहीं थे, लेकिन सीटू ने बन्द दरवाज़े के पीछे मालिकों से समझौता करके हड़ताल को तोड़ दिया। नतीजा यह हुआ कि वे छह मज़दूर भी काम पर वापस नहीं लिए गये और मज़दूरों की वेतन बढ़ाने, बोनस देने आदि की माँगों को भी मालिकों ने नहीं माना। लेकिन सीटू के विश्वासघात की यह महज़ शुरुआत थी। इसके बाद के घटनाक्रम पर निगाह डालते ही सीटू का मज़दूर-विरोधी चरित्र उभरकर सामने आ जाता है।

मज़दूरों की बिगुल मज़दूर दस्ता कार्यकर्ताओं के साथ बैठक

नवम्बर माह के अन्त में आई.ई.डी. के कुछ मज़दूरों का सम्पर्क मज़दूर मुद्दों पर डाक्युमेण्ट्री फ़िल्म बना रहे एक फ़िल्मकार के ज़रिये 'मज़दूर बिगुल' के साथियों से हुआ। इसके तुरन्त बाद क़रीब 50 मज़दूरों की एक टोली के साथ 'मज़दूर बिगुल' के साथियों की बैठक हुई। इस बैठक में 'मज़दूर बिगुल' के साथियों ने मज़दूरों के समक्ष पिछली असफल हड़ताल की समीक्षा और समाहार रखा और आगे की रणनीति पर चर्चा की। इस बात पर मज़दूर सहमत थे कि दीपावली के दौरान हुई हड़ताल में सीटू की बात मानकर कारख़ाने का क़ब्ज़ा छोड़ने का निर्णय ग़लत था। अगर क़ब्ज़ा जारी रहता तो छह निकाले गये मज़दूरों को भी वापस रखा जा सकता था और मज़दूरों की प्रमुख माँगों को भी मान लिया जाता। लेकिन सीटू द्वारा चोर दरवाज़े से समझौता कर लिये जाने के कारण हड़ताल टूट गयी और मज़दूरों का मनोबल गिर गया। इसके अलावा, मज़दूर अभी वे मुद्दे भी नहीं उठा रहे थे जो उन्हें सबसे पहले उठाने चाहिए थे। इसका कारण भी सीटू की सोची- समझी साज़िश थी। 'मज़दूर बिगुल' के साथियों ने अपनी राय रखते हुए कहा कि इस संघर्ष में वेतन बढ़ोत्तरी के साथ-साथ सबसे बड़ा मुद्दा था विकलांग हुए मज़दूरों के लिए मुआवज़ा और आगे ऐसी दुर्घटनाएँ न हों इसके लिए सुरक्षित काम की स्थितियों की माँग। यानी, मशीनों में सुरक्षा उपकरण (सेंसर) लगवाने की माँग। लेकिन सीटू ने यह माँग उठाना भी ज़रूरी नहीं समझा। किसी कारख़ाने में 300 मज़दूरों की उँगलियाँ कट जायें और इसके बावजूद यूनियन काम की सुरक्षित स्थितियों और मुआवज़े की माँग न करे, यह आश्चर्यजनक था। लेकिन सीटू की मालिकों से साँठ-गाँठ के चलते यह माँग ही कभी नहीं उठायी गयी।

इस बैठक में सभी मज़दूरों ने 'मज़दूर बिगुल' के साथियों की राय के साथ सहमति जतायी। इस बैठक में ही यह भी तय किया गया कि जल्द ही फिर से हड़ताल की शुरुआत की जायेगी और उसी प्रकार कारख़ाने पर क़ब्ज़ा किया जायेगा। चूँकि कारख़ाने की यूनियन सीटू से सम्बद्ध थी, इसलिए सबसे पहले सीटू के नेतृत्व पर इस बात के लिए दबाव डाला जायेगा कि वह इस संघर्ष में मुआवज़े और कार्य-स्थितियों की माँग पर ज़ोर दे और वेतन और बोनस के मुद्दों को उसके साथ उठाया जाये। मज़दूरों ने कहा कि इस संघर्ष की शुरुआत होते ही 'मज़दूर बिगुल' के साथियों को सूचित किया जायेगा और बुलाया जायेगा।

फिर से संघर्ष की शुरुआत और उसकी पृष्ठभूमि

18 दिसम्बर को आई.ई.डी. कारख़ाने के मज़दूरों के नेताओं का 'मज़दूर बिगुल' के साथियों के पास फ़ोन आया और उन्हें कारख़ाने में मज़दूरों के साथ बैठक करने के लिए आमन्त्रित किया गया। उन्हें बताया गया कि मालिकों के साथ अन्तरविरोध काफ़ी बढ़ चुका है और अब मज़दूर आर-पार की लड़ाई लड़ने का मन बना चुके हैं। आई.ई.डी. के मज़दूर उस समय बहुजन समाज पार्टी के स्थानीय नेता गजराज से मिलकर मध्यस्थता करवाने की बात सोच रहे थे। लेकिन 'बिगुल मज़दूर दस्ता' की राय थी कि किसी भी चुनावी पार्टी के नेता को संघर्ष में शामिल करने से संघर्ष कमज़ोर पड़ेगा क्योंकि ये चुनावी नेता हमेशा मज़दूरों का इस्तेमाल करते हैं और अन्त में मालिकों के हाथों बिककर मज़दूरों के संघर्ष को तोड़ देते हैं। वास्तव में इनकी भूमिका हड़ताल तोड़ने वालों की होती है। पहले भी बादाम मज़दूरों की पहली हड़ताल में बहुजन समाज पार्टी के एक छुटभैये नेता धर्मेन्द्र भैया ने यही काम किया था। इस पर आई.ई.डी. के मज़दूर गजराज से न मिलने को सहमत हो गये। 25 दिसम्बर को आई.ई.डी. के मज़दूरों ने मज़दूर बिगुल के साथियों से बैठक तय की जिसमें आगे की रणनीति बनानी थी।

मज़दूरों को क़ानूनी विभ्रमों और विजातीय प्रवृत्तियों से छुटकारा पाना होगा

इस बीच सीटू के नेता वेतन बढ़ोत्तरी आदि की माँग को लेकर नोएडा के सी.ओ. से मिले थे। यह वार्ता असफल हो गयी थी और सीटू के नेतृत्व ने हड़ताल का नोटिस दिया। लेकिन ताज्जुब की बात यह थी कि सिर्फ़ तीन दिन (4, 5, 6 जनवरी) की हड़ताल का नोटिस दिया गया था। यह नहीं तय किया गया था कि अगर तीन दिनों की हड़ताल में कोई फ़ैसला नहीं होता है तो मज़दूर क्या करेंगे? क्या वे वापस काम पर जायेंगे? या हड़ताल जारी रखेंगे? साफ़ था कि सीटू मालिकों के साथ मिलकर पहले ही सौदा कर चुकी थी। इस सौदे के मुताबिक़ तीन दिन की हड़ताल के बाद मालिक कुछेक माँगों पर मानता, जिनका वास्तव में कोई मतलब नहीं होता। इस दुअन्नी को जीतकर सीटू हड़ताल वापस ले लेती। कहने के लिए सीटू की वाहवाही हो जाती कि उसकी हड़ताल के चलते मज़दूरों को दुअन्नी ही सही, लेकिन कुछ तो मिला। कारख़ाने की यूनियन के नेतृत्व में कुछ नेता सचेतन तौर पर सीटू का साथ देते हैं और अन्दर से वे भी उतने ही समझौता-परस्त हो चुके हैं। इन नेताओं के चलते ही जब भी कारख़ाने के मज़दूर कोई संघर्ष शुरू करते हैं तो सीटू उसमें घुसपैठ कर लेता है और फिर अपनी समझौता-परस्ती और ग़द्दारी से उस संघर्ष को तोड़ देता है।

22 दिसम्बर को 'मज़दूर बिगुल' के साथियों की आई.ई.डी. कारख़ाने के मज़दूरों से फिर से बात हुई तो उन्होंने बताया कि फ़िलहाल सीटू लड़ने के लिए तैयार हो गयी है और 27 से 31 दिसम्बर तक कारख़ाने के सामने धरना रखा गया है। 'मज़दूर बिगुल' के साथियों को धरने में शामिल होने के लिए बुलाया गया। सीटू ने मज़दूरों को बताया था कि यह धरना मालिकों को चेतावनी देने के लिए रखा गया है। अगर धरने के दौरान कोई वार्ता होती है और मालिकान कुछ माँगें मानते हैं तो फिर हड़ताल करने की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन हड़ताल का नोटिस काफ़ी पहले देकर और इस धरने के दौरान मालिक को पूरी मोहलत देकर सीटू ने इस बात की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी कि मालिक हड़ताल के पहले ही अपने उत्पादन को बढ़ाकर अपने आपको हड़ताल झेलने के लिए तैयार कर ले। ख़ैर, 27 तारीख़ को धरना शुरू हुआ और 'मज़दूर बिगुल' के साथी धरने पर पहुँच गये।

27 से 31 दिसम्बर तक का धरना

सुबह 10 बजे धरना शुरू हुआ। 'मज़दूर बिगुल' के साथी पहले ही धरना-स्थल पर पहुँच गये थे। क़रीब 1 घण्टे बाद सीटू का नेता गंगेश्वर शर्मा अपनी कार से धरना-स्थल पर पहुँचा और ठेकेदारों की तरह सीटू के झण्डे और बैनर लगवाने लगा। इस बीच वह कार की चाभी घुमाते हुए मज़दूरों से कह रहा था, "नारे-वारे लगाते रहो!" कुछ समय बाद वह वहाँ से चला गया। इसके बाद धरने पर भीड़ बढ़नी शुरू हुई। पहले 'मज़दूर बिगुल' के अभिनव को कारख़ाना यूनियन के नेता पवन शर्मा ने सभा को सम्बोधित करने के लिए बुलाया। अभिनव ने अपने वक्तव्य में सवाल उठाया कि हड़ताल सिर्फ़ तीन दिन की क्यों रखी गयी है? अगर तीन दिन में मालिक माँगें नहीं मानता है तो क्या हम संघर्ष रोक देंगे? दूसरी बात यह कि माँगों में बर्ख़ास्त 6 मज़दूरों और पहले ले-ऑफ़ पर निकाले गये 39 मज़दूरों को वापस रखने की माँग क्यों नहीं रखी गयी है? और तीसरी बात यह कि विकलांग हुए मज़दूरों को मुआवज़े और सुरक्षित कार्य-स्थितियों की माँग को भी माँगपत्रक में शामिल किया जाना चाहिए। इन चारों माँगों के बिना संघर्ष का कोई अर्थ नहीं होगा। इंजीनियरिंग ग्रेड के वेतन की माँग वाजिब है और उसे निश्चित तौर पर उठाया जाना चाहिए। लेकिन सिर्फ़ वेतन की लड़ाई लड़कर मज़दूर वास्तविक लड़ाई गवाँ बैठेंगे। मज़दूर अगर अपने आपको सुरक्षित ही नहीं रख पायेंगे तो काम कैसे करेंगे? इसके बाद बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों ने मज़दूर एकता के क्रान्तिकारी गीत प्रस्तुत किये। 'मज़दूर बिगुल' के आशीष ने भी सभा को सम्बोधित किया और दलालों से सावधान रहने की बात की। पहले के संघर्ष की पराजय से सबक़ लेने की बात करते हुए आशीष ने अभिनव द्वारा बतायी गयी चार माँगों को केन्द्रीय माँग बनाकर संघर्ष करने की बात की।

अभिनव ने आगे अपने वक्तव्य में यह भी कहा कि 3 दिन की हड़ताल का कोई अर्थ नहीं होगा। हमें अपनी हड़ताल को अनिश्चित काल तक चलाना होगा, जब तक कि हमारी माँगें मान नहीं ली जातीं। अन्यथा इस हड़ताल का कोई अर्थ नहीं होगा, मज़दूरों की हार होगी और अन्तत: वे निराश होंगे। अगर अब फिर से हड़ताल की गयी है तो फिर से कारख़ाने पर क़ब्ज़ा करना होगा, उत्पादन ठप्प करना होगा और तब तक इस संघर्ष को जारी रखना होगा जब तक कि हमारी क़ानून-सम्मत माँगें मान नहीं ली जातीं। मज़दूरों ने 'मज़दूर बिगुल' द्वारा प्रस्तुत योजना पर सहमति जतायी और अन्त तक लड़ने की इच्छा ज़ाहिर की। पहले दिन सीटू का कोई नेता गंगेश्वर के जाने के बाद धरना-स्थल पर नहीं आया।

अगले दिन, यानी 28 दिसम्बर को भी 'मज़दूर बिगुल' के साथी धरना-स्थल पर मौजूद रहे। इस दौरान सीटू का एक सदस्य 'मज़दूर बिगुल' के एक साथी के पास आया और बोलने लगा कि आप लोगों को यहाँ किसने बुलाया है और जब हमें ज़रूरत होगी तो हम आपको बुला लेंगे। फ़िलहाल, आप लोग यहाँ से चले जायें। इस पर 'मज़दूर बिगुल' के शाम ने कहा कि हमें यहाँ कारख़ाना यूनियन के नेतृत्व ने बुलाया है और अगर वे नहीं भी बुलाते तो हम आते। यह किसी शादी का भोज नहीं है जिसमें आमन्त्रण पर आया जाये। मज़दूर राजनीतिक कार्यकर्ता हर उस जगह जाते हैं जहाँ मज़दूर संघर्षरत होते हैं। ऐसे में उनका स्वागत करने की बजाय उन्हें वहाँ से भगाने के पीछे सीटू की क्या मंशा है? वास्तव में, सीटू का उद्देश्य जायज़ माँगों पर लड़ना था ही नहीं। वह तो शुरू में ही मालिकों से समझौता कर चुकी थी। लेकिन बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों की मौजूदगी के कारण मज़दूर जुझारू संघर्ष का मन बनाने लगे थे और सीटू की दलाली खाने की योजना खटाई में पड़ने लगी थी। यही कारण था कि सीटू बिगुल मज़दूर दस्ता की मौजूदगी से घबराया हुआ था। दूसरे दिन बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी धरना-स्थल पर मौजूद रहे और मज़दूरों का उत्साहवर्द्धन और मार्गदर्शन करते रहे। सीटू का कोई भी नेता दूसरे दिन धरने पर नहीं आया।

तीसरे दिन धरना सुबह से दोपहर तक सामान्य रूप में जारी रहा। आशीष और अजय ने सभा को सम्बोधित किया और बीच-बीच में क्रान्तिकारी गीतों की भी प्रस्तुति की गयी। दोपहर में सीटू के दो नेता गंगेश्वर शर्मा और रामसागर कार से उस समय धरना-स्थल पर पहुँचे जब मज़दूरों की संख्या वहाँ काफ़ी कम थी। वे आकर बिगुल मज़दूर दस्ता के साथियों से विवाद करने लगे और कहने लगे कि वे यहाँ से चले जायें। इस पर जो मज़दूर वहाँ मौजूद थे, उन्होंने सीटू के नेताओं का विरोध किया और कहा कि बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी लगातार संघर्ष में मौजूद रहे हैं और वे यहाँ से नहीं जायेंगे। इस पर सीटू के नेताओं ने कारख़ाना यूनियन के नेताओं को बुलाया और कहने लगे कि अगर बिगुल के लोगों को यहाँ से नहीं भेजा गया तो वे अपना बैनर और झण्डा लेकर चले जायेंगे। वहाँ मौजूद तमाम मज़दूर कहने लगे कि बैनर और झण्डे

(पेज 12 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006